॥ ओ३म् ॥

# जन ज्ञान

(मासिक)

आर्य जनता का
प्रतिनिधि प्रकाशन

## क्रान्तिकारी दयानन्द

ओ३म् भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्

ओ३म्

॥ ओ३म् ॥

जन-ज्ञान (मासिक)

# क्रान्तिकारी दयानन्द

प्रो० संतराम एम० एससी०
(भू० पू० प्रोफेसर फिजिक्स
दिल्ली विश्वविद्यालय)

१५ मार्च १९६९

जन-ज्ञान—प्रकाशन
१५९७, हरध्यानसिंह रोड
नई दिल्ली-५

प्रकाशक :
**जन-ज्ञान प्रकाशन**
१५९७, हरध्यानसिंह रोड
नई दिल्ली-५

वैदिक विचारधारा प्रसार हेतु
जन-ज्ञान (मासिक)
के
सदस्य बनिए :
नमूना बिना मूल्य मंगाएँ
वार्षिक मूल्य ६) : आजीवन १०१)
●
जन-ज्ञान, (मासिक)
१५९७, हरध्यानसिंह रोड, नई दिल्ली-५

सम्पादक—मुद्रक—प्रकाशक
श्रीमती राकेशरानी द्वारा
जयभारती प्रेस, ६२५ सदर बाजार,
दिल्ली-६ में मुद्रित

# सादर प्रणाम !

मेरा सादर प्रणाम हो, उस महान् गुरु दयानन्द को; जिसकी दृष्टि ने भारत के इतिहास में सत्य एकता को देखा ।

—रवीन्द्रनाथ ठाकुर

# सम्पादकीय

महर्षि दयानन्द इस युग की वह महान् विभूति थे जिन्होंने धरती के प्रत्येक मनुष्य को एक ईश्वर का पुत्र समझ कर शांति और आनन्द का मार्ग बताया।

वस्तुत: इतिहास में महर्षि अपनी उपमा आप ही दिखायी पड़ते हैं। उन्होंने मनुष्य-मनुष्य के मध्य के समस्त जन्मगत भेद मिटा कर अनेकता में एकता का जो बीजारोपण किया, उस पर चल कर ही युद्ध और सर्वनाश की लहरें समाप्त हो सकती हैं।

जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में ऋषि ने आमूल चूल वैज्ञानिक परिवर्तन किए। उन के ग्रन्थ और जीवन की घटनाएं इस बात की साक्षी हैं कि वे एक साथ ऋषि भी थे और सुधारक भी, क्रांतिकारी भी थे और निर्माता भी। उन के हृदय में अज्ञान को समाप्त करने की उद्दाम लालसा थी।

वे सच्चे ईश्वर पुत्र···मानवता के रक्षक और महान् सत्य साधक थे।

उन के जीवन के कुछ महत्वपूर्ण अंगों पर विद्वान् लेखक ने सुलझे ढंग से प्रकाश डाला है। यही इस पुस्तक की विशेषता है।

पाठकों को यदि इसे पढ़ कर महर्षि दयानन्द के मार्ग पर चलने की तनिक भी प्रेरणा मिली तो हम अपना प्रयत्न सफल समझेंगे—

—राकेश

# विषय प्रवेश

शिव चतुर्दशी तथा शिवरात्रि-व्रत हिन्दू जाति की एक सर्वव्यापी परम्परा है। इस की तिथि फाल्गुन-कृष्णा चतुर्दशी को ऋतु-राज (वसंत) में पड़ती है। ऋतुक्रम में प्रथम स्थान वसंत का ही है, जबकि न केवल वनस्पति जगत् में ही एक नए जीवन का संचार होता है अपितु प्राणी जगत् में भी एक विचित्र प्रकार की उत्तेजना उमड़ पड़ती है। हर प्रकार के जीव जन्तु अपने नए जीवन की उमंगों से भरपूर हुए प्रकृति के आनन्दमय दृश्य को साक्षात् करने में सहायक होते हैं। परन्तु इस सौन्दर्य जगत् में मानव का स्थान एक विचित्र-सा है। यह अपने आप को उत्तम प्राणी मान कर इस प्राकृतिक आनन्द का स्रोत अपनी इन्द्रियों की अनुभूति में ही समझता है, अर्थात् भोगों की स्मृतियों में आनन्द की झलक को जान कर भोगों में ही प्रवृत्त हो जाता है।

वेद ने बताया—**वसन्त इन्नु रन्त्यो**, अर्थात् हे मानव ! वसंत ऋतु तेरे लिए कल्याणकारी हो रही है, इसके लिए तू अपने मन को शिव संकल्पों से भर दे जिस से कि तुझे शाश्वत आनन्द की अनुभूति होती रहे और जिस से तेरा जीवन लोलुपता के दोष से मुक्त होकर कल्याण-मय हो जावे ! वसन्त के ऐसे यौवन काल में उमड़ती उमंगों को इस प्रकार प्रणीत करने के लिए व्रत धारण करना ही शिव रात्रि व्रत का महत्व प्रतीत होता है, जो वैदिक काल की एक परम्परा जान पड़ती है। सभी आर्य लोग इस दिन प्रकृति के उभार के साथ उभरते हुए जीवन को कल्याणमय बनाने का व्रत लेते थे।

प्राचीन काल में कल्याण का स्रोत अन्य शक्तियों के समान एक सर्वव्यापी शक्ति ही माना जाता था, यह शक्ति 'यज्ञ-रूप' होने के कारण इस दिन विशेष यज्ञ किए जाते थे जिन से शारीरिक, आत्मिक और समाजिक उन्नति हुआ करती थी परन्तु जब इन शक्तियों को अलग-

अलग देवताओं के रूप में मूर्तिमान किया गया, तो एक नई प्रथा चल पड़ी। शिव अर्थात् कल्याण की प्राप्ति के लिए इस रात्रि को पाषाणादि से बनी शिवलिंग की मूर्ति की पूजा ही जरूरी मानी गई। और अध्यात्म क्षुधा की निवृत्ति के लिए 'भूखां मरना' ही ठीक समझा गया। इस लिए इस दिन शैव अन्न-जल को त्याग कर शिव कीर्तन में सारी रात व्यतीत करते हैं। परन्तु व्यवहार में क्या होता है ? बस यही, जो आप जानते हैं। यानी कुछ लोग क्षुधा कष्ट तो सहन कर लेते हैं, किन्तु निद्रा देवी की दासता से मुक्त नहीं हो सकते। कारण यह कि निद्रा तो सिवाय प्राणों के शरीर की अन्य सब शक्तियों पर काबू पा सकती है, परन्तु शिवलिंग की सार्थकता तो उनके लिए एक कल्याण मात्र ही हो सकती है। काल के प्रभाव से परिपाटियों में बिगाड़ आ जाया करते हैं - समय के आवरणसे ढका हुआ अच्छे से अच्छा रिवाज भी भयानक सा प्रतीत होता है। इसलिए कुछ शुद्ध आत्माएँ जन्म लेकर ऐसी बिगड़ी हुई परम्पराओं को अपना-अपना वास्तविक शुद्ध रूप प्रदान करती हैं, जिस से साधारण लोग अपनी प्राचीन परम्पराओं को मनाते हुए सुख का जीवन व्यतीत करते हैं।

ऊपर वर्णित परिपाटी के संशोधन की कथा भी स्मरणीय होने के कारण संक्षिप्त रूप से वर्णन की जाती है, जिस से आप को जान पड़ेगा, कि किस प्रकार परमात्मा किसी जिज्ञासु के पवित्र तथा श्रद्धालु मन में सत्य का प्रकाश करता है।

कथा का स्थान गुजरात (काठियावाड़) प्रान्त में टंकारा नाम का एक छोटा-सा ग्राम है। वहाँ पर करषण जी लाल जी के नाम से एक समृद्ध त्रिवेदी ब्राह्मण रहते थे। यह एक बड़े ऐश्वर्यशाली गृहस्थ थे। बड़े धार्मिक तथा शिव के अनन्य भक्त भी थे। इन्होंने शिव पूजन के लिए इसी गाँव में एक शिव मन्दिर भी बनवाया। सन् १८२४ ईस्वी में इन के यहाँ एक बच्चे ने जन्म लिया, जिस का नाम मूल-शंकर रखा गया। कहते हैं कि इस बच्चे का जन्म 'मूल' नक्षत्र में होने के कारण इस का नाम ऐसा हुआ। यह कोई असम्भव विचार नहीं, परन्तु ऐसे

नामकरण की अधिकतम सम्भावना निम्नलिखित प्रकार भी हो सकती है :—

जैसे पहले वर्णन किया गया है, नवजात के पिता करषणजी एक कट्टर शंकर-किंकर थे परन्तु शंकर (शिव) की पूजा उसको कंकड़ समझ कर ही करते थे। वह एक पक्के शैव भी थे। इसलिए वह शिव को सब देवताओं में प्रधान भी मानते थे और सृष्टिकर्ता, पालक तथा संहारक तो स्वीकार कर के ही उस की पूजा किया करते थे। हाँ पूजा बेशक शिवलिंग की होती थी। किन्तु उनकी मन की अज्ञात गहराई में किसी 'मूल शंकर' का वास्तविक भाव अवश्य ही होगा। इसलिए हो सकता है कि इस अज्ञात को ज्ञातव्य करने के लिए ही पिता ने अपने पुत्र की ओर देखा हो, जिस से उसकी आन्तरिक प्रेरणा ने ऐसे नामकरण का सुझाव दिया हो। यह बात ध्यान देने योग्य है, कि कंकड़ में शंकर की अनुभूति असम्भव है, किन्तु किंकर में इसके लिए ऐसी कोई कठिनाई प्रतीत नहीं होती, क्योंकि पहली वस्तु तो बेजान है और इसका आधार प्राकृतिक शक्ति में ही हैं। दूसरी वस्तु सजीव है, और जिस का विकास दैवी शक्तियाँ लगातार कर रही हैं। खैर, ऐसे नामकरण की विचारधारा कुछ भी रही हो पिता ने पुत्र को वेदों का एक प्रख्यात पण्डित और शिव का एक अनन्य भक्त बनाने की ठान ली थी और फिर इसी अभिप्राय से उसको किशोर होने से पहले ही यजुर्वेद कण्ठस्थ करा दिया बालक भी ज्ञान के प्राप्त करने और धार्मिक कृत्यों के अनुष्ठानादि में प्रेरित हो गया।

ईस्वी सन् १८३८ की घटना है, कि जब इस बालक की आयु केवल १४ वर्ष की थी, तो इस बालक को पिता ने शिव रात्रि व्रत धारण करने का आदेश दिया, और बताया कि किस प्रकार व्रत-चारी होकर और रातभर जागरण कर शिव के पूजन यापन से सृष्टि के मूल कारण का साक्षात् होता है। यह एक बड़ा कष्टदायक व्रत है, और फिर चौदह वर्षीय बालक के लिए तो यह असह्य ही जान पड़ता है। इसलिए बालक की माता ने अपने पुत्र को ऐसे व्रत के लिए स्वीकृति न दी। परन्तु बालक की जिज्ञासा तीव्रता से उमड़ चुकी थी। जिस से

वह शंकर के मूल रूप को जानने के लिए हर प्रकार तैयार हो चुका था। इसलिए पिता के आदेशानुसार व्रतस्थ हो गया। सायंकाल शिव की अर्चना तथा आराधना के लिए नगर के लोग मन्दिर में पहुंचे। पूजन यापन में मूल-शंकर तथा उनके पिता भी उपस्थित थे। घड़ि-यालों और घण्टों की मधुर-मधुर ध्वनि के साथ शिव की आरती उतारते हुए श्रद्धालु जनों के उल्लास को देख कर बालक का उत्साह और भी वढ़ गया और उस कल्याणकारी शिव के वास्तविक दर्शन के लिए आशावान हुआ शिवलिंग के अति निकट बैठकर टक-टक उसकी ओर देखने लगा। शिव कीर्तन में रात का पहला प्रहर बीत गया, दूसरा भी। परन्तु आधी रात के पश्चात् निद्रा देवी ने सब को अपनी गोदी में लेकर शान्त बना दिया। यदि किसी ने उस देवी की लोरी नहीं सुनी तो वह था केवल वही बालक जो व्रत-प्रतिष्ठा में लगा शिव के वास्तविक रूप के दर्शन करने की प्रतीक्षा में बैठा हुआ था। मन्दिर के बाहर रात की कालिमा ने अपना कड़ा शासन जमा रखा था, और भीतर भी अब पूर्ण सन्नाटा छाया था। हाँ शिव की प्रतिमा पर जलते हुए घी के दिये से कुछ प्रकाश पड़ रहा था। ऐसी स्थिति देख कर कुछ चूहे अपने-अपने बिलों से निकल मूर्ति के पास पहुँचकर वहाँ पड़े नैवेद्य को कुतर-कुतर कर खाने लगे। कुछ मूर्त्ति के ऊपर भी चढ़ गए। इस दृश्य ने बालक के मन में एक भ्रम उत्पन्न कर दिया और क्षण भर के लिए उसके हृदयाकाश में एक प्रकाश सा भी हुआ, जिससे उसके समक्ष एक प्रश्न उपस्थित हो गया, कि क्या निर्जीव पदार्थ को चेतनता का कृत्रिम रूप देने से किसी सजीव वस्तु पर अधिकार हो सकता है? यदि नहीं, तो आज के इस तमाशे के क्या अर्थ हो सकते हैं? इस भ्रम ने बालक को व्याकुल कर दिया और सोए हुये अपने पिता को जगाकर उसने अपने भ्रम को नम्रता पूर्वक वर्णन कर दिया। पिता ने पुत्रको अश्रद्धालु कह कर धिक्कारा। धिक्-कृत बालक ने अपने पिता के तर्क को युक्तिहीन पाकर व्रत पारण अर्थात् उपवास की समाप्ति का निश्चय कर लिया। इसका क्या कारण हो सकता है? यही कि बालक के मन में यह विचार उत्पन्न हो गया, कि किसी तर्क हीन अथवा अबोध

युक्त प्रथा का रिवाज के लिये या किसी डर से मानना हानिकारक होता है।

परन्तु व्रत पारण आत्मिक शक्ति के बिना कहाँ ? यह तो आप जानते ही हैं, कि यद्यपि बालकने व्रत को स्वेच्छा पूर्वक स्वीकार किया हुआ था और आसानी से निबाह भी सकता था फिर भी व्रत भंग किया, क्या यह कृत्य उसकी आत्मिक शक्ति का प्रदर्शन नहीं ? क्या इससे सिद्ध नहीं, कि इस दृश्य से न केवल 'मूल' के मन में भ्रम ही उत्पन्न हुआ हो, अपितु एक 'भास' भी हुआ जिसके सम्बन्ध में एक उपनिषद्कार ने लिखा है—

**तस्य भासा सर्वं इदम् विभाति**

अर्थात् (वह भास) जिसके भास से सारा संसार दृष्टिगोचर हो जाता है। यह भास आत्मिक बल के देने वाला है, जो बालक में इस समय समा चुका था। शायद आप पूछें कि वह भास तो केवल क्षण भर के लिए ही हुआ होगा, तो उसको पूर्ण 'बोध' कैसे हो गया। इस प्रसंग में केनोपनिषद का सिद्धान्त है—

**यदेतद्विद्यु्तोव्यद्यु्तदा इतीति**
**न्यमीमिषदा इत्यधि दैवतम्**

अर्थात् दैवी शक्ति का साक्षात्कार बिजली की चमक अथवा आँख झपक के समान क्षण भर के लिये होता है। मूल को 'मूल' का बोध हुआ और संसार को उस 'मूल' के बोध कराने के लिए मूल ने यज्ञ रूप आर्य समाज की रचना की, जिसमें अपने जीवन की आहुति डाल दी। एक कवि ने कहा है—

**शंकर तो कंकड़ भये, चढ़ीं भ्रम की धूल**
**शंकर को शंकर करने, जन्म लियो शंकर मूल**

ऐसा बोध होने पर शंकर मूल ने शंकर के मूल रूप की खोज शुरू कर दी और इसी प्रयास में वह १८६० में मथुरा पहुँचे और विरजानन्द की कोठरी के द्वार को खटखटाया।

# अन्वेषक दयानन्द

जिस घटना की ओर हम आपका ध्यान ले जाना चाहते हैं, वह कोई बहुत प्राचीन कथा नहीं,केवल एक सौ वर्ष के कुछ पहले की बात है। भारत की स्वतन्त्रता के लिए ईस्ट इण्डिया कम्पनी के विरोध में जो विद्रोह खड़ा हो गया था, उसकी समाप्ति हुए यद्यपि तीन वर्ष बीत चुके थे, फिर भी इस विप्लव के चिह्न अभी तक प्रत्यक्ष थे। साधारण लोग भयभीत हुए, वैसे तो अपने-अपने व्यवहारों में जुटे हुए दिखाई देते थे, परन्तु वे सब के सब अपनी आधीनता की प्रतिमा के नृत्य के प्रत्यक्ष साक्षी हो रहे थे। संन्यासियों ने भी इस क्रान्ति में भाग लिया था। वे भी अपनी पराजय को देखकर इसके कारणों की खोज में प्रवृत्त हो गये, और यह सोच कर कि किसी देश की स्वाधीनता के खोए जाने का कारण उस देश के वासियों की कमजोरियां अथवा त्रुटियाँ ही हुआ करती हैं, उनमें से कई एक देश की इन त्रुटियों के अन्वेषक होकर इनके सुधार के लिए प्रयत्न करने लगे। ऐसे एक संन्यासी महापुरुष का कुछ संक्षिप्त विवरण आपके समक्ष रखते हैं।

ईस्वी संवत् १८६० की बात है, कि मथुरा नगरी में एक कुटिया के बाहर अच्छे डील-डौल वाला एक युवक खड़ा है। केश, नख, दाढ़ी और मूंछ का छेदन करा, केवल एक कोपीन पहने हुए है। परन्तु देखने वाले उसकी मुखाकृति की उपमा पूर्णिमा के चन्द्रमा से ही कर सकते हैं। यह तपस्वी तो अवश्यमेव ही है, क्योंकि इसकी त्वचा से दया और आनन्द की उठती हुई तरंगों का ऐसा भास हो रहा है, जैसे संगमरमर के तपते हुए फर्श पर वायु की कंपकपी देखी जा सकती है। आंखें, जिनसे मन की पवित्रता, बुद्धिमत्ता और सरलता के अतिरिक्त गवेषणा की झलक उमड़ रही है, नीचे की ओर लगी हुई हैं और ऐसा जान

पड़ता है कि किसी अप्राप्त वस्तु की खोज में लगी हों।

किवाड़ को दो-तीन बार खटखटाने से कोठरी के अन्दर से आवाज आई कि "कौन है ?" यह आवाज प्रज्ञा-चक्षु श्री स्वामी विरजानन्द सरस्वती की है। बाल्यावस्था में ही जब यह कोई छः वर्ष के थे, तो चेचक के कारण इनके दोनों चक्षु जाते रहे थे। परन्तु ऐसी हालत में भी इन्होंने हरिद्वार, कनखल और बनारस जैसे स्थानों पर जाकर धर्म-शास्त्रों का अध्ययन किया, जिससे वे वैदिक साहित्य विशेषकर व्याकरण के प्रख्यात पण्डित हो गए। अठारह साल की आयु में संन्यास का लेना इतिहास में एक अपूर्व उदाहरण है। कोई पिछले ३० वर्ष से इसी मकान में एक वैदिक विद्यालय खोल रखा है। यद्यपि आपकी आयु इस समय ८० वर्ष की है, फिर भी आप अपने जीवन का ध्येय समूचे तौर पर 'शास्त्राचरण' और 'शास्त्रोच्चारण' ही बनाया हुआ है। अर्थात् आपका जीवन ही शास्त्र धर्म है, और आपका काम वेदानुकूल शास्त्रों का प्रचार है। इसके अतिरिक्त आप एक प्रसिद्ध शास्त्रार्थ महारथी भी हैं, जिसके कारण आपकी प्रख्याति दूर-दूर फैली हुई है। आपकी ऐसी प्रसिद्धि को सुनकर ही किसी अलब्ध वस्तु की खोज में इस ३५ वर्ष के युवक संन्यासी ने इस कोठरी के द्वार को खट-खटाया है। परन्तु सोच रहा है कि "मैंने तो उत्तर देना है, इस प्रश्न का कि 'मैं कौन हूँ ?" क्या कहूँ और क्या बताऊँ ? मैं दयानन्द हूँ, संन्यासी हूँ, या यों बोलूं, कि मैं दयाराम था, माता-पिता मुझे प्यार से, 'मूल' अथवा मूलशंकर के नाम से पुकारते थे, और मैंने चौदह वर्ष की आयु तक यजुर्वेद को कण्ठस्थ कर लिया था। शब्द-रूपावली को भी अच्छी तरह समझ लिया था। फिर छः वर्ष अपने ग्राम के प्रसिद्ध पण्डितों से निरुक्त, मीमांसा और दूसरे कई धर्म-शास्त्रों का अध्ययन भी किया था। शुद्धचैतन्य नाम रखकर ब्रह्मचारी के वेश में भी बहुत कुछ साधारण ज्ञान का भी उपार्जन कर रखा है और अब पिछले ग्यारह वर्ष से मैंने संन्यासी के रूप में प्रसिद्ध संन्यासियों और योगियों के सम्पर्क में आकर जो कुछ इनसे प्राप्त हो सकता था, प्राप्त कर लिया है। क्या यह भी कह दूं कि अपनी मातृभूमि की स्वतन्त्रता के लिए मध्य प्रदेश के संन्यासी और वैरागी मेरे

ही नेतृत्व में रानी झांसी की मदद के लिए गये थे, क्योंकि मैं दृढ़ निश्चय हूँ कि—

"कोई कितना ही करे, परन्तु जो स्वदेशी राज्य होता है, वह सर्वोपरि उत्तम होता है। अथवा मतमतान्तर के आग्रह रहित अपने और पराये का पक्षपात शून्य, प्रजा पर पिता माता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुख दायक नहीं है।"

परन्तु यह ठीक है, कि हमारे वहां पहुँचने से पहले उपर्युक्त विद्रोह का अन्त हो चुका था। क्या यह भी बता दूं कि यह भारत देश जो ऋषि-मुनियों और वेद वक्ताओं का स्थान था, आज समूचे तौर पर पराजय को प्राप्त हो चुका है, अपनी स्वतन्त्रता को हर प्रकार से खो बैठा है। मेरे मन के अन्दर यह विचार मुझे कई प्रकार के भ्रमों में डाल कर कहां-कहां घुमा रहा है। क्या हमारा वेद-ज्ञान और शास्त्र-मर्यादा हमारी इस अधोगति का कारण है, या वाम-मार्ग की तरह हमारे सब धर्म वेद विरुद्ध होकर हमें गलत रास्ते पर चलाकर निकृष्टता की ओर ही घसीटते ले जा रहे हैं। क्या यह सब शास्त्रज्ञ और प्रसिद्ध वेदवक्ता इस बात से अनभिज्ञ हैं ? क्या इन त्रुटियों को लोगों के सामने नहीं रखा जा सकता ? परन्तु वेद हैं कहां ? सुना तो जरूर है। भारत में तो वह लुप्त हो चुके हैं। इसलिए इनको जाना भी जावे, तो कैसे ? हाँ, अभी तो मैंने उत्तर देना है कि 'मैं कौन हूँ ?' यह सारी कथा तो पीछे चलेगी। यदि मैं अपना नाम बताता हूँ, तो वह क्या समझेंगे ? मेरा तो उनसे परिचय नहीं, और फिर 'मैं कौन हूँ ?' इसको भी मैं क्या जानता हूँ ? सहस्त्रों विद्वानों से मिला, उनसे बहुत कुछ सीखा, परन्तु इस प्रश्न का उत्तर तो नहीं मिला। इसलिए मैं इसका उत्तर भी क्या दे सकता हूँ ? केवल यही कि मैं नहीं जानता कि 'मैं कौन हूँ ?' हां ! मैं जानना चाहता हूँ, और इसी कारण आपके द्वार पर खड़ा किवाड़ खट-खटा रहा हूँ।

इस पर द्वार खुल गया, युवक संन्यासी ने अन्दर प्रवेश किया। दोनों में बातचीत हुई। गुरु शिष्य के नाते का निर्णय हो गया। फिर

दो दिन के पश्चात् जब दयानन्द अपने रहने अथवा खाने का प्रबन्ध करके शिक्षा के लिए गुरु-स्थान पर लौटकर गुरु के सम्मुख उपस्थित हुआ, तो प्रथम प्रश्न जो इनके सामने रखा गया, वह यह था कि आपने अब तक क्या-क्या पढ़ा और सीखा है ? इस पर युवक ने उन सब पुस्तकों की गिनती कर सुनाई, जो अब तक पढ़ी थीं। यह सुनकर गुरु ने आज्ञा दी, कि इन सब को तत्काल पास बहती हुई यमुना नदी में बहा आओ। नये बनने वाले शिष्य ने शिक्षक की आज्ञा का पालन सच्चे छात्र की तरह हार्दिक भाव से किया और साथ ही अपने पहले प्राप्त किये हुए ज्ञान के अभिमान को भी हृदय से निकाल मानो पुस्तकों के साथ ही नदी में बहा दिया।

मन की भी एक बड़ी आश्चर्यजनक स्थिति है। जब कोई विचार अच्छा हो या बुरा, इस पर बार-बार आक्रमण करता है तो मन पर इसका प्रभाव ऐसे जम जाता है कि फिर इसका निकालना साधारण मनुष्य के लिए असम्भव सा हो जाता है, और फिर यदि कोई दूसरी दलील चाहे कितनी अच्छी क्यों न हो, इसके अन्दर समा नहीं सकती। बच्चे के सरल और शुद्ध हृदय पर हर प्रकार के संस्कारों का प्रभाव पड़ सकता है। श्वेत-पत्र की तरह इस पर सब कुछ लिखा जा सकता है। यही कारण है कि एक मुसलमान, ईसाई अथवा हिन्दू के घर में पैदा हुआ या पलता हुआ बच्चा उसी धर्म का होता है, जो कि उसके घर का धर्म हुआ करता है। परन्तु ज्यों-ज्यों आयु बढ़ती जाती है, यह घर के संस्कार और फिर बाहर के वातावरण से उत्पन्न हुए प्रभाव इसको ऐसा कठोर अथवा संगदिल बना देते हैं कि फिर इस पर आक्रमण करने वाली कोई भी युक्ति चाहे कितनी ही तर्क-संगत क्यों न हो, इस पर बिना कोई प्रभाव डाले ऐसे वापस फैंक दी जाती है, जैसे किसी पत्थर की दीवार पर फैंका हुआ रबर का गेंद। इसी लिए इस मनोविज्ञान अथवा मानस-शास्त्र के जानने वाले शिक्षक ने अपने नये शिष्य के हृदय को विकार रहित करना जरूरी समझा।

नये सिद्धान्तों को प्रवेश करने के लिए और फिर इनको मन में स्थित करने के लिए इस (मन) को बचपन की अवस्था में लाना आव-

श्यक हुआ करता है। परन्तु इसको ऐसा कौन कर सकता है ? हां, हो तो सकता है पर कर सकता है वह जो सच्चा जिज्ञासु हो, जिसके हृदय के अन्दर सचाई के लिए तड़प हो।

ऐसी ही मन की सरलता और शुद्धता इस प्रज्ञाचक्षु शिक्षक के नये छात्र ने दिखाई।

वैदिक काल में अपने अस्तित्व की खोज के लिए जिज्ञासुओं का किसी योग्य विद्वानों की शरण में जाना कोई आश्चर्यजनक बात नहीं हुआ करती थी। ऐसी-ऐसी कथाएँ उपनिषदों तथा अन्य धर्म पुस्तकों में भी पाई जाती हैं। मुण्डकोपनिषद् में शौनक नाम का एक ऐश्वर्य-सम्पन्न गृहस्थ जो किसी महाविद्यालय के अधिष्ठाता भी थे, आङ्गिरस ऋषि के समीप जाकर नम्रता पूर्वक शिष्य भाव से इस प्रकार प्रार्थना करते हैं कि महाराज मैं उस ज्ञान की खोज में आया हूँ, जिसको पाकर सब वस्तुओं की जानकारी हो जाती है। इसके उत्तर में ऋषि ने कहा, कि हे शौनक ! इसके लिए आपको दोनों विद्याओं का जानना जरूरी है— एक परा और अपरा। अपरा तो वेद आदि तथा संसार की सब विद्याओं की जानकारी है, और परा वह प्रयत्न है, जिससे वेद आदि से जानी हुई या पढ़ी हुई विद्याएँ जीवन में समाई जा सकती हैं अथवा इनको अपने कर्मों द्वारा प्रत्यक्ष किया जा सकता है।

संसार में बहुत से पुरुष वेदों के पढ़ने पढ़ाने वाले और इसके अतिरिक्त कई और विद्याओं के जानने वाले भी हैं। यह सब के सब अपरा विद्या के विशेषज्ञ समझने चाहियें। परन्तु वह महापुरुष जिन्होंने इन सिद्धान्तों की प्रक्रिया की हो, या इनको अपने जीवन क्रम में प्रत्यक्ष किया हो, वही परा विद्या के ज्ञाता हो सकते है। वास्तव में जिस सिद्धान्त को प्रक्रिया में नहीं लाया जाता, वह एक निकम्मा भार ही हुआ करता है। इसलिए इस ऋषि ने आत्म-ज्ञान के सम्बन्ध में परा और अपरा दोनों विद्याओं के जानने का उपदेश किया, यानी 'मैं कौन हूँ ?' जैसे प्रश्न को समझने के लिए सिद्धान्तों की जानकारी और फिर इनका प्रयोग में लाना अत्यावश्यक ठहराया।

इस प्रकार का एक उदाहरण छान्दोग्य उपनिषद् में नारद मुनि

ग्रौर सनत्कुमार की कथा में मिलता है। नारद जी सनत्कुमार की सेवा में जाकर विधि पूर्वक प्रार्थना करके उस ज्ञान के उपदेश की इच्छा प्रकट करते हैं, जिससे कि मन में शान्ति हो। इस पर इनसे पूछा गया कि ग्रापने ग्रब तक क्या पढ़ा ग्रौर सीखा है ? इसके उत्तर में नारद जी ने बतलाया कि मैंने चारों वेद ग्रौर इनके समझने के लिए शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष ग्रादि को भली प्रकार जाना हुग्रा है। इसके ग्रतिरिक्त ग्रौर कई विद्याग्रों का ज्ञान भी रखता हूँ, परन्तु शान्ति नहीं। मन भागता हुग्रा सा जान पड़ता है। इसमें स्थिरता नहीं। इससे मुझे ज्ञात होता है कि मैं इतनी विद्याग्रों को जानने पर भी यह नहीं जान सका कि 'मैं कौन हूँ ?'

हमारा युवक संन्यासी भी ऐसी ही वस्तु की खोज में श्री विरजानन्द की सेवा में ग्राया है, परन्तु इस समय में ग्रौर उपर्युक्त कथाग्रों के काल में बड़ा ग्रंतर है। वह कथाएँ वैदिक जमाने की हैं जब कि भारत वासियों का जीवन वैदिक क्रियाग्रों से ग्रोत प्रोत था। वेदों का पढ़ना पढ़ाना, सुनना सुनाना सब का परमधर्म था। परन्तु जिस समय की हम वार्त्ता कर रहे हैं वह वैदिक काल से बहुत दूर निकल चुका है। वेदों का न केवल लोप ही हो गया है, किन्तु वेद के नाम पर बहुत सी कुरीतियों का भी चलन हो चुका है। लोग ग्रपनी वैदिक मर्यादा को भूल कर ग्रौर वैदिक बंधनों को तोड़ कर कई मार्गों पर भटकने लग गये हैं। इस लिए यह स्पष्ट है कि उन पुराने वेद के सिद्धांतों के समझने के लिए मन से उन निकृष्ट विचारों का निकालना जरूरी हुग्रा करता है, जो किसी समय के प्रभाव ग्रथवा प्रचलित वेद विरुद्ध सिद्धांतों के कारण उत्पन्न हो जाया करते हैं। इस लिए हमारे वृत्तांत में गुरु शिष्य का कर्त्तव्य स्पष्ट है।

परन्तु फिर प्रश्न उठता है, कि श्री विरजानन्द ने तो एक पाठशाला खोल रखी थी, जिसमें कई विद्यार्थी ग्राते ग्रौर शिक्षा की समाप्ति पर घर लौट जाते। किसी को यह नहीं कहा गया होगा कि तुम ग्रपना पढ़ा पढ़ाया नदी में बहा ग्राग्रो। तो फिर इस संन्यासी के लिए ही ऐसी ग्राज्ञा क्यों ?

इस के उत्तर में कहा जा सकता है, कि श्री विरजानन्द के हृदय की गहराई में एक आकांक्षा छुपी पड़ी थी, जिसके निकलने का कोई रास्ता दिखाई नहीं दे रहा था, लेकिन इस समय इस धीर, बुद्धि-जीवी प्रज्ञा-चक्षु ने इस नये आये हुए शिष्य की योग्यता में अपनी संकल्प-संपत्ति को भांप लिया। इसी कारण गुरु ने इस नये आये हुए शिष्य पर तीन वर्ष में वैदिक ज्ञान का वह रंग चढ़ा दिया जिससे कि यह संन्यासी एक अपूर्व पण्डित हो गया। वेदों का पुराना गुप्त गूढ़ ज्ञान प्रदान कर सहस्त्रों वर्ष पुराने भारत का चित्र फिर इस युवक के सामने प्रत्यक्ष कर दिया। देश की पराधीनता के कारण को अब इस विद्यार्थी ने भली प्रकार जान लिया अर्थात् इस का कारण वैदिक या आर्य्य संस्कृति नहीं, अपितु आर्य्य जाति का पतन होना है, और फिर इसका कई वेद विरुद्ध संप्रदायों में बंट जाना है। अन्ततः सन् १६६४ के आरम्भ में विद्या के आदान की समाप्ति हो गई। गुरु-गृह से विदाई का समय आ गया। शिष्य ने परम्परा के अनुकूल कुछ पैसे इकट्ठे किए और सेर भर लौंग खरीद कर गुरु दक्षिणा के रूप गुरु के भेंट किए। गुरु ने इस भेंट को तुच्छ बता कर लेने से इन्कार कर दिया। दूसरे पास बैठे विद्यार्थियों ने मुंह में उंगली डाल ली, और मन ही मन में सोचने लगे, कि हमारे गुरु ने तो पहले इस प्रकार की प्रवृत्ति को कभी भी प्रकट नहीं होने दिया अब इस का कारण क्या हो सकता है? क्या यह अब वृत्तिकर्षित अर्थात् जीविका के कारण कष्ट ग्रस्त हो गए हैं। स्नात विद्यार्थी भी कुछ चकित सा हो गया, और इस प्रकार विस्मित हुआ बड़ी विनम्रता से बोला, कि महाराज मैं तो एक संन्यासी हूँ। दक्षिणा-काल के समय परम्परा के अनुसार मांग कर कुछ लौंग आप की भेंट कर अपनी हार्दिक श्रद्धा अथवा अपनी प्रेम और भक्तियुक्त पूज्यभावना को मूर्तिमान् कर रहा हूँ। परन्तु उस परम प्रख्यात दृष्टिवान् शिक्षक ने अपनी मांग को दोहराते हुए फिर स्पष्ट कहा, कि मैंने तुझ को उस गुप्त गहन वेद विद्या का प्रदान इस तुच्छ दक्षिणा के लिए नहीं किया। इस पर दयानन्द बोले, कि हे महाराज इसके अतिरिक्त मेरे पास है ही क्या?

इस पर श्री विरजानन्द अपनी प्रवृत्ति के अनुसार कड़ी आवाज से बोले, कि क्या मैं तुम से वह चीज मांग रहा हूँ, जो तेरे पास नहीं ? ऐसा हरगिज नहीं । इस पर उत्तर देते हुए उस नव स्नात विद्यार्थी ने कहा, कि यदि मेरे पास कोई ऐसी वस्तु है, तो मैं उसे आप को भेंट करने को तैयार हूँ । परन्तु मैं ऐसी किसी वस्तु को नहीं जानता । प्रत्युत्तर में विरजानन्द ने कहा कि यह ठीक है, तू ने अभी अपने आप को नहीं जाना । केवल पुस्तक-ज्ञान से इसे जाना भी नहीं जाता । इसका जानना जीवन की संग्राम-भूमि में होता है, न कि जंगल के किसी एकान्त स्थान में । परन्तु मैं जान गया हूँ, कि तू कौन है ? और तेरे पास क्या-क्या है ?"

देख यह संसार एक 'यज्ञ' है, जो मनुष्य की उत्कृष्टता के भाव से रचा गया है । इस समय भारत-वासी इस ज्ञान को भूल कर केवल अपने आप को ही नहीं भूले, अपने अपने कर्तव्य से ही केवल बेखबर नहीं हो गये अपितु अपनी यज्ञ भूमि को भी भूल गए हैं । तू कौन है ? तू उस यज्ञ रूपी महा शक्ति का सहयोगी है । तू अपने रूप को जान जो कि उस यज्ञ रूप शक्ति से भिन्न होता हुआ भी तू उसका साथी है । अल्पज्ञ होता हुआ भी सर्वज्ञता को साक्षात् कर सकता है । तू बीज को पैदा नहीं कर सकता, परन्तु हर बीज के अंकुर को हरा भरा करने में सहायक हो सकता है । बेशक मूल-ज्ञान तेरे अन्दर न हो । किन्तु तू ज्ञान से भरपूर हो सकता है, और संसार में इस का तू भली भान्ति प्रकाश कर सकता है । इस वक्त देश के अन्दर वेद-ज्ञान का, जो मैंने तुझे दिया है, लोप हो चुका है । देशवासी अपने आप को भूल गए हैं ! उलटे रास्ते पर चल कर निकृष्टता की ओर खिचे जा रहे हैं । क्या तू अपने देशवासियों को अथवा मनुष्य जाति को इस उलटे मार्ग स हटा कर उनके लिए उस पुराने वेद मार्ग का प्रदर्शक बनेगा ! अगर ऐसा करेगा तो तेरा ऋषि ऋण पूरा हो जाएगा और मेरी दक्षिणा पूर्णतया मुझे मिल जाएगी जिसका कि मैं अधिकारी हूँ । यह सुन कर पास बैठे विद्यार्थी आश्चर्यचकित हो गए, और सोचने लगे, कि क्या इस प्रज्ञा-चक्षु गुरु के अन्दर ऐसी आकांक्षा

छिपी पड़ी है ! क्या संसार की बाह्य वस्तुओं के न देखने पर भी इस की अन्दर की ज्योति ने इस ३८ वर्ष के युवक संन्यासी में इसके अस्तित्व को देख लिया है ! यह संन्यासी भी इन बातों से कुछ आश्चर्यचकित सा हो गया, परन्तु इन बातों की प्रतिक्रिया से इसके हृदय में एक बवण्डर सा उठा, जिसने कि इसके अपने विचारों को भी प्रत्यक्ष कर दिया, गुरु के शब्दों के यह प्रतिशब्द जान पड़े। भाव भी एक दूसरे के अनुरूप दिखाई दिए। बस फिर क्या था। श्रद्धा की भावना उमड़ पड़ी। जिह्वा स्वीकृति लिए हुए आनन्दमें आकर नृत्य करने लगी। इस गुरु दक्षिणा के चुकाने के लिए अपनी सामर्थ्य को जान कर श्रद्धा से सिर झुका दिया। गुरु ने आशीर्वाद दिया और कहा, कि तू एक अपूर्व ऋषि है। धर्म-क्षेत्र में जाकर तेरी प्रख्याति रंग लाएगी और लोग आपको महर्षि कह कर पुकारेंगे। क्योंकि तू वेद का नाद सबको एक-सा सुनाएगा, जिससे ऊँच-नीच का भाव मिट जाएगा।

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।
ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय ॥

यजुर्वेद अ० २६। २

जैसे मैं सब मनुष्यों के लिए इस कल्याणी अर्थात् सुख देने-हारी वेदों की वाणी का उपदेश करता हूँ, वैसे तुम भी किया करो। समाज में आप मनुष्यों की विभिन्नता कैसी ही करें, इनको इनके कर्म अथवा बुद्धि की तुलना से आप इनको ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र या किसी नीच से नीच नाम से पुकारें परन्तु मेरे राज्य में ये सब बराबर हैं। मेरी वेद वाणी और आवश्यक भोग पदार्थ समान हैं।

# देश भक्त दयानन्द

विद्या समाप्ति के पश्चात् गुरु से आशीर्वचन सुन इस युवक संन्यासी ने गुरु-गृह से बिदाई ली। इस वक्त वह अपने संन्यास के शृंगेरी मठकी परम्परा के अनुसार शरीर पर भभूत-भस्म रमाये, गले में रुद्राक्ष की माला धारण किये, वदन पर एक कोपीन पहने और हाथ में केवल एक सोटा लिए हुए थे। इस समय यदि इनके पास कुछ था, तो वह था मस्तिष्क में। इसी मस्तिष्क में थे, कुछ वह युद्धोपकरण, जिनसे धर्म क्षेत्र के आन्दोलन में काम लेना था। परन्तु विचार था, कि कहाँ जाया जावे, और धर्म आन्दोलन का आरम्भ कैसे किया जावे? ऐसी विचारधारा से उनके हृदय-मन्दिर में एक ववण्डर-सा उमड़ा हुआ था। एक तरफ मनुष्य की अल्पज्ञता थी तो दूसरी ओर ज्ञान-युक्त श्रद्धा थी।

मन में ऐसी जद्दो-जहद के साथ स्वामी विरजानन्द के गुरुकुल का यह नया स्नातक आगरे आ पहुँचा, और नगर के पास एक उद्यान में डेरा जमा लिया।

इसी बाग में नागरिकों की एक संगति में स्वामी कैलाश-पर्वत के भगवद्गीता पर दैनिक प्रवचन हुआ करते थे। इस नये आये हुए संन्यासी ने भी इस सत्य-संग में भाग लेना आरम्भ कर दिया, प्रतिदिन जाते, प्रेम और श्रद्धा से स्वामी जी के व्याख्यान सुनते।

एक दिन की घटना है, कि जब गीता के श्लोक पर कुछ विचार-विमर्श शुरू हुआ, तो इस नये युवक संन्यासी ने भी अपनी विचारधारा रूपी सरिता को बहा दिया और श्लोक की स्पष्टता ऐसी युक्ति से की कि श्रोता के हृदय में एक विद्युत की चमक-सी प्रतीत हुई, जिससे कि उपस्थित सज्जनगरण पर भारी प्रभाव पड़ा। ऐसे विस्मित चकित हुए श्रोता विनय पूर्वक याचना करने लगे, कि कृपया आप हमें अपने प्रवचनों से कृतार्थ किया करें। इसमें इस युवक संन्यासी ने अपने कर्तव्य

को देखा, और ऐसी आशाजनक प्रार्थना को सुनकर बड़े उमंग के साथ श्रीमद्भगवद्गीता की कथा आरम्भ कर दी।

इनके प्रवचनों से प्रभावित होकर दूर-दूर से जनता आकर इस संगति में भाग लेने लगी। और दंडी स्वामी के नाम से इनकी प्रख्याति दूर-दूर फैल गई। इस प्रकार इन्होंने लगभग एक वर्ष गीता, योग-वशिष्ठ आदि के सम्बन्ध में अपने प्रवचनों की वर्षा से आगरे और उस आस-पास की जनता को शान्त और सन्तुष्ट किया।

परन्तु वेदोक्त ईश्वर के गुण कर्म और स्वभाव के सम्बन्ध में अपनी ख्याति या अपने स्वार्थ के लिए अपने विचारों के साथ कभी भी किसी प्रकार का समझौता नहीं किया। यही कारण था, कि जब आप पंच-दशी की कथा बांच रहे थे, तो, इसमें यह लिखा हुआ पाकर कि ईश्वर माया के बन्धन में पड़ जाता है, पुस्तक को दूर फेंक दिया। यह पूर्ण-तया सत्य है, कि जिस किसी ने भी ईश्वर का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर लिया हो, और इसके सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ आदि गुणों को केवल जानता ही न हो, खूब समझता भी हो, उसके हृदय में इन गुणों के विरोध में किसी विचार की कैसे समाई हो सकती है? किन्तु आप सोच सकते हैं, कि इस युवक संन्यासी के ऐसा करने से वहाँ उपस्थित श्रोताओं के हृदयों पर क्या गुजरी होगी? उन श्रद्धालु दिलों के अन्दर उमड़ती हुई लहरों का बहाव किस ओर बह निकला होगा? नदी में बाढ़ आने पर किसी गाँव को बचाने के लिए बाँध का बनाना आवश्यक हुआ करता है। परन्तु पानी के बहाव के रुख का भी ध्यान करना जरूरी है। रुका हुआ जलप्लावन बाँध को तोड़ सकता है या और कई प्रकार की हानि का कारण हो सकता है। ऐसी हृदयगत सम्भावनाओं का प्रतिविम्ब उस संन्यासी के हृदय में मूर्तिमान हुआ। और विचार किया, कि जब तक लोग सन्मार्गस्थ नहीं होते, इनके हृदयों की गति का रोकना कोई लाभदायक नहीं हो सकता। ऐसी भावनाओं से प्रभा-वित होकर उस कथा वांचने वाले ने आम लोगों की सुविधा को सामने रखते हुए और उनकी मनोभिलाषाओं की तृप्ति के लिए ईश्वर स्तुति और प्रार्थना के कुछ मन्त्रों का संग्रह कर संध्या के नाम से एक

पुस्तक को छपवा कर मुफ्त बाँटा, जिससे हर व्यक्ति इन मन्त्रों को कण्ठस्थ कर प्रातः और सायं दोनों काल अपना दैनिक ब्रह्मयज्ञ कर सके। इसका एक परिणाम यह भी हुआ, कि इससे हर एक को वेद-मन्त्रों के उच्चारण करने का समानता पूर्वक अधिकार भी प्राप्त हो गया।

अभी तक यह संन्यासी अपने सम्प्रदाय के बाह्य आडम्बरों को पूरी पाबन्दी से निभा रहे थे, और निभाते भी क्यों न। सत्य के अन्वेषक जो सदैव सत्य की खोज में डटे रहते हैं, थोड़े ज्ञान या भ्रम से इधर-उधर नहीं भटकते। कारण यह है कि वह जानते हैं कि कई बार झूठ भी सत्य का जामा पहन सादा-दिलों को व्यर्थ में घुमा सकता है। इसलिए सत्य के अन्वेषक अपनी दिन-चर्या में सत्य को देख कर भी इसको अपनाने में संकोच करते हैं। इससे परिचय-पत्र मांगते हैं, इसको वेद की कसौटी पर परखते हैं, परीक्षा लेते हैं, और फिर इस पर विजयी होकर ही इस सत्य को दृढ़ता से अपना लेते हैं।

इस युवक संन्यासी-खोजी के सामने भी यही समस्या थी। सोचा, रुद्राक्ष एक फल की गुठली ही तो है। इसके पहनने से क्या होता है? भील, कंजर आदि घुंघरी जो एक बेल का लाल या सफेद फल है, पहनते हैं, तो वह मुक्ति को क्यों नहीं पा लेते? राख धारण करने का फल होता, तो सुअर, कुत्ते, गधा आदि—राख में लेटने वालों को मुक्ति का फल क्यों नहीं मिलता? इस संन्यासी ने ऐसी-ऐसी बातों पर खूब सोच-विचार किया। क्या सच्ची भगवद्-भक्ति के लिए बाह्य चिन्हों का होना जरूरी है? इनसे क्या लाभ? कुछ नहीं। तो फिर क्यों। हाँ यह चिह्न याद तो दिलाते हैं, कि मैंने क्या करना है। मेरे ऊपर कौन-कौन सम्बन्ध पड़े हुए हैं। परन्तु समय पर तो यह सब भूल जाते हैं। और यह सब निशान केवल एक सम्प्रदाय के संकेत ही तो हैं।

हाँ, यह ठीक है, कि मेरे दीक्षा-गुरु श्री स्वामी पूर्णानन्द सरस्वती ने अपार कृपा और अनुग्रह से मुझे केवल २४ वर्ष की आयु वाले युवक को संन्यासाश्रम में प्रवेश कराया था। और शिव को सृष्टिकर्त्ता, पालन करने वाला और संहारक के रूप में ही मुझे स्वीकार करने का आदेश

दिया था। किन्तु इस समय तो सब शैव शिवलिंग के पुजारी माने जाते हैं। मैं इनमें कैसे समा सकता हूँ। और फिर यह भी बात है कि मैंने ऋषि विरजानन्द का ऋण चुकाना है? वेद का फिर से उत्थापन करना है। सारे संसार को भूले हुए मार्ग की ओर लौटाना है। इतने महान् कार्य में इन साम्प्रदायिक चिह्नों के क्या अर्थ हो सकते हैं? ऐसी गवेषणा में एक वर्ष और व्यतीत हो गया। अन्ततः ईस्वी संवत् १८६६ में पुष्कर तीर्थ पर इन चिह्नों का विशेष कर रुद्राक्ष की माला का परित्याग कर पूर्ण रूप से इनका खण्डन भी शुरू कर दिया। ठीक है जब सत्य-भास्कर उदय होता है, तो कौन-सा अंधकार इसके सामने ठहर सकता है?

इस समय संन्यासी की प्रख्याति बहुत दूर तक फैली हुई थी। और ऐसे प्रख्यात पुरुषों के दिनचर्या के किसी अदल-बदल पर सबकी दृष्टि पड़ा करती है। कारण यह है कि ऐसे पुरुषों की कृतियाँ ही उनके सिद्धान्तों का व्याख्यान समझी जाती हैं। इस घटना का प्रभाव इस संन्यासी के प्रशंसकों पर क्या पड़ा होगा? कुछ कह नहीं सकते। क्योंकि आर्य-जाति जो उस वक्त और अब भी हिन्दू जाति के नाम से प्रसिद्ध है, स्वप्न अवस्था में थी, जैसे अब भी है, कोई मामूली-सी हलचल उसको जगा नहीं सकती थी। और इस जाति में कई प्रकार के सम्प्रदायों के होने के कारण इस घटना का कोई विशेष प्रभाव भी क्या हो सकता है? हाँ, इतिहास में यह बात आई है, कि इस घटना के कुछ समय के पश्चात् इनके गुरु भाई श्री पण्डित जुगल किशोर जिसने पीछे श्री स्वामी विरजानन्द के दायाधिकार को भी प्राप्त किया था, मिले। परस्पर प्रेमभाव से बातचीत की। इस संन्यासी ने भी अपने गुरु भाई का यथायोग्य स्वागत किया था। परन्तु जब पण्डित जुगलकिशोर स्वामी विरजानन्द के पास पहुँचे, तो अपने गुरु भाई की बड़ी निन्दा की और कहा कि दयानन्द तो अधर्म का प्रचार कर रहा है। कण्ठी-वण्ठी का पहनना छोड़ दिया है। शालि-ग्राम का पूजन तो दूर रहा वह औरों को भी ऐसे कर्त्तव्यों से हटा रहा है। प्रज्ञा-चक्षु श्री स्वामी विरजानन्द सरस्वती जिसने अपने दिव्य चक्षुओं से दयानन्द के अस्तित्व को

भांप लिया था, उत्तर में बोले। दयानन्द सन्मार्ग खोजी है, उसे सन्मार्गस्थ होना ही पड़ेगा। उसने अपने सिर पर बड़ा भारी बोझ लिया हुआ है। सारे संसार को न केवल वेद मार्ग दिखाना ही है, अपितु उनको उस पर चलाना भी है। ऐसे व्यक्ति के लिए इस साम्प्रदायिक चिह्न के क्या अर्थ हो सकते हैं। और फिर मूर्ति है ही क्या ? एक श्याम वर्ण पत्थर की बटिया ही तो है, जो जल-प्रवाह से घिस-पिट कर गोल और चिकनी हो गई हो।

उपर्युक्त कथा के अतिरिक्त स्वामी जी के हिन्दू श्रोताओं पर इस घटना का कोई खास असर हुआ हो, कुछ कहा नहीं जा सकता, इस से ईसाई-पादरियों के चेहरे कुछ खिल गये। वह हिन्दू धर्म के प्रचलित रिवाजों की त्रुटियों से भली-भान्ति परिचित थे। इन की दीनता भी उन पर स्पष्ट थी। अतः जैसी हिन्दू जाति की स्थिति उस वक्त थी, उस के अनुसार इस को अपना एक ही ग्रास समझते थे। केवल ठीक समय और अनुकूल वातावरण की प्रतीक्षा ज़रूर थी। अब इस संन्यासी के प्रचलित धर्म के कुछ चिह्नों के छोड़ने पर इन की उमगें खूब उमड़ पड़ीं। सोचा कि यह बाबा जैसा वह उन्हें पुकारते थे, अगर हमारे बस में हो जावे, अर्थात् ईसा पर ईमान लावे, तो कुल हिन्दू जाति पाँति का अपने पाश में लपेटना कोई कठिन काम नहीं रह जाता। कारण यह कि, इस वक्त भी इस साधु की विद्वत्ता तथा योग्यता प्रसिद्ध थी। इस को तर्कवेत्ता और तत्ववेत्ता भी मानते थे, मान प्रतिष्ठा भी थी, साथ यह भी विदित था, कि यह संन्यासी सत्य का खोजी है। कहीं से सत्य मिले, किसी दिशा से आए, उस को ग्रहण करने में सदा तैयार है। ऐसी स्थिति को जान कर और इस में अपने कार्य की सिद्धि को समझ कर, कुछ पादरियों का ध्यान इस संन्यासी को ईसा मत की दीक्षा देने की ओर हुआ। इसी अभिप्राय से जब स्वामी दयानन्द पुष्कर से अजमेर आए, तो वहाँ पर पहले पहुंचे हुए तीन पादरी माननीय श्री ग्रे श्री राबिनसन और श्री स्कूलबरेड उन के सम्मुख उपस्थित होकर कुछ धर्म सम्बन्धी विषयों पर वाद-विवाद के लिए ललकारा। स्वामी जी ने तुरन्त मान लिया। प्रस्तुत

विषय थे परमात्मा, आत्मा, प्राकृतिक नियम और वेद। तीन रोज तक बात-चीत होती रही। चौथे दिन कुछ बहाना बना कर पादरी लोग वहाँ से चले गये और फिर वापिस नहीं लौटे और लौटते भी कैसे ? आए थे शिकार करने, होने लगे आप शिकार। इनमें से एक ने जिस का नाम था श्री राबिनसन, अपने मित्र देवेन्द्रनाथ को एक पत्र में कुछ इस प्रकार लिखा। श्री दयानन्द का गेरुआ बाना अर्थात् संन्यासियों वाला जोगिया पहनावा है। एक बड़े कद-बुत का आदमी है। इस की सम्यक् बुद्धि अथवा अनुभूति की जितनी ही प्रशंसा की जावे, थोड़ी है। इस के व्यक्तित्व में एक बड़ा चुम्बकीय आकर्षण भी है। परन्तु अपने आप को पौराणिक हिन्दुओं से भिन्न नहीं मानता। एक परमात्मा और उसकी वाणी वेद में इस की अगाध श्रद्धा है। मनुस्मृति के प्राधिकार पर वर्णाश्रम का मानने वाला भी है। सत्य का अन्वेषक तो जरूर है।

इस घटना के कुछ दिनों के पश्चात् इसी स्थान पर श्री ब्रुक चीफ कमिश्नर भी स्वामी जी को मिलने आए। दूसरे दिन इन को अपनी कोठी पर भी आने का निमन्त्रण दिया। ऋषि ने भी ठीक समय पर पहुँच कर बात-चीत की। यह बात-चीत थी गौ-रक्षा पर। स्वामी जी ने गौ को भारत माता का मेरु-दंड बताया। कृषि का आधार और इस लिए कृषकों की जान बताई। अन्य लोगों के लिए इस का दूध सन्तुलित अथवा युक्त आहार के लिए होना सिद्ध किया। इस लिए अपने आतिथेय श्री ब्रुक का ध्यान इस ओर कराते हुए कहा कि यह शासन का कर्त्तव्य होना चाहिए कि ऐसे पशुओं की रक्षा की जावे। इस अंग्रेज अधिकारी ने इन युक्तियों को मान तो लिया, परन्तु इस में सहायक होने में अपने आप को असमर्थ बताया।

स्वामी जी अब भी शरीर पर राख लगाते और नमो नारायण के शब्द से ही औरों के साथ भेंट करते थे। कुछ संन्यासी भी इन की संगत से लाभ उठाने के लिए इन के साथ रहने भी लग गये थे।

स्वामी जी ने अब अपने प्रचार का क्षेत्र बढ़ाना चाहा। हजारों अथवा लाखों की संख्या के समक्ष अपने विचारों को रखने के लिए

सोचा। और इस के लिए अप्रैल १८६७ में हरिद्वार पर मनाया जाने वाले कुम्भ के मेले को ही ठीक समझ कर अपने दूसरे (संन्यासी) साथियों सहित वहाँ पहुँचे और सप्त सरोवर पर अपना डेरा डाल लिया। हरिद्वार तो हिन्दुओं का एक प्रसिद्ध तीर्थ है ही, इस लिए यहाँ पर अक्सर लोगों की भीड़-भाड़ बनी रहती है। परन्तु कुम्भ के मेले का क्या कहना है? यह हर बारह वर्ष के बाद मनाया जाता है। देश-देशान्तरों से आए हुए हिन्दू लोगों का एक बड़ा भारी जमघट हो जाता है। इस लिए हिन्दू जाति के सुधार और प्रचार के लिए इस से और कोई अच्छा अवसर नहीं हो सकता। इन बातों को विचार कर ही स्वामी जी यहाँ आ पहुँचे थे। इस वक्त इन के साथ कोई सोलह व्यक्ति थे। जिन के लिए आठ झोंपड़ियाँ खड़ी की गई थीं। और उपदेश-स्थान पर पाखण्ड-खण्डनी पताका फहरायी और फिर एक बड़े स्थ न में अपने युक्ति-युक्त, विद्वत्ता पूर्ण और पांडित्य सिद्धान्तों से भरपूर प्रवचनों की वर्षा करने लगे। परन्तु जिस हजूम में केवल अंध श्रद्धालु ही हों, स्नान को ही परम धर्म मानते हों, केवल किसी साधु अथवा विद्वान् के दर्शनों को ही मुक्ति का साधन समझते हों, उन के सामने सुधारकों के सुधारने वाले प्रवचनों के क्या अर्थ हो सकते हैं। लोग आते, खड़े होते, कुछ सुनते और थोड़ा सा ठहर कर चले जाते। कोई कहता, कि यह किस प्रमाण से कह रहा है। कई ऐसे भी गुनगुनाते हुए चले जाते कि यह कैसा बाबा है,जो परम्परा से प्रचलित रिवाजों और रीतियों को गलत बता रहा है। मेरे पिता आए थे, और मेरे दादा भी आए थे, जो इस गंगा में स्नान कर अब स्वर्ग में सुख भोग रहे होंगे। ईश्वर की कैसी माया है, कि इस कलियुग में गंगा बहा दी, जिस में स्नान करने ही से सब पाप, अथवा दुष्ट कर्म के फल आदि दूर हो जाते हैं। क्या यह संन्यासी ऐसा कह कर कि कर्म का फल नष्ट नहीं हो सकता, हमारी बुद्धियों को भ्रम में डालना चाहता है? शायद यह गंगा माई की निन्दा सुना कर हमें भ्रष्टाचार का पाठ पढ़ाना चाहता है, या ईसाइयों का भेजा हुआ उनके मत की ओर ले जाना चाहता है।

स्वामी जी ने भी ऐसी स्थिति को भांप लिया। उपदेश करना छोड़ दिया। एकान्त में जा कर समाधिस्थ हो गये और ऐसी स्थिति के कारणों को सोचने लगे। 'कैसा अंध विश्वास है और अज्ञान पर आधारित कैसी यह श्रद्धा ? नदी का पानी ठंडा और मीठा हो सकता है। बाह्य अवयवों पर इस का कुछ प्रभाव भी समझा जा सकता है। शरीर को साफ कर सकता है। परन्तु इस का अन्तःकरण के साथ क्या सम्बन्ध हो सकता है ? वहाँ तो केवल आचार-विचार की ही पहुँच हो सकती है। पानी तीर्थ भी तो नहीं हो सकता। क्योंकि तीर्थ वह होता है जो पार ले जावे, पानी तो डुबोता है। हाँ, नाव तीर्थ हो सकती है, क्योंकि इस में नदी के पार पहुँचाने की सामर्थ्य होती है।

क्या यह रिवाज इतने ही पुराने हैं, जितना यह लोग समझते हैं। नहीं, नहीं, यह तो कल की बात है। सृष्टि को बने हुए तो लगभग कोई दो अरब वर्ष व्यतीत हो गए हैं। कोई पाँच हज़ार वर्ष पहले तक तो आर्य लोग केवल एक ईश्वर और उस की वाणी वेद को ही मानते थे, और नित्यप्रति "ओं तत् सत" परमेश्वर के इन तीन नामों का प्रथम उच्चारण करके कार्यों का आरम्भ और परमेश्वर का ही नित्य धन्यवाद करते स्वतन्त्रता से आनन्द भोगते चले आ रहे थे। परन्तु अब क्या है ? आधीनता और दासता। ऐसा क्यों ? क्या उस जाति अथवा राष्ट्र के लोग जो एक ईश्वर को मानने वाले हों, मिल कर उस की ओर बढ़ने वाले हों, वेद के अनुसार अपने कर्त्तव्य को पालने वाले हों, कैसे पराधीनता के जाल में जकड़े जा सकते हैं। वास्तव में अविद्या के कारण भारत-वासियों में दूर-दृष्टि का पूर्णतया अभाव हो गया है। यह अपने इर्द-गिर्द थोड़ी ही दूर तक देख रहे हैं। पराजित जातियों का माना हुआ ईश्वर भी तो पराजित हो जाता है। शासकों का मत कैसा ही हो, भला ही हुआ करता है। इस समय जो बड़े-बड़े मजहब दुनिया में फैल रहे हैं, इस कारण से नहीं कि उन में कुछ अधिक सच्चाई है ; परन्तु इस लिए कि वह बहुत से स्वतन्त्र राष्ट्रों के धर्म हैं।

यह ठीक है कि पाँच सहस्र वर्ष पहले वेद-मत से भिन्न दूसरा कोई मत नहीं था। परन्तु यह भी सिद्ध है, कि पोप-लीला के मूल, महाभारत युद्ध से पूर्व एक सहस्र वर्ष से प्रवृत्त थे। उस समय ऋषि मुनि भी थे। फिर भी कुछ-कुछ आलस्य, प्रमाद, ईर्ष्या द्वेष के अंकुर उगे हुए थे, जिस कारण महाभारत का युद्ध हुआ। और जिस के परिणाम से वेद-विद्या की अप्रवृत्ति हुई। भूगोल पर अविद्या अन्धकार के विस्तृत होने से मनुष्यों की बुद्धि भ्रमयुक्त हो गई, जिस से कि जो जिसके मन जैसा आया, वैसा मत चलाया। ऐसी परिस्थितियों में वेद विरुद्ध जैन आदि मत का फैल जाना कोई बड़ी बात नहीं थी। फिर यह उस समय के राजाओं की सहायता से ही इनकी स्थापना हो सकी। शंकराचार्य ने जब यह सोचा होगा कि सत्य आस्तिक वेद-मत का छूटना और जैन नास्तिक मत का चलना बड़ी हानि की बात हुई है, इन को किसी प्रकार हटाना चाहिए, तो उस ने सब से पहले उज्जैन के राजा सुधन्वा को वेद-मत को स्वीकार करने को कहा था। राजा के सामने जैनियों के पण्डितों के साथ शास्त्रार्थ किया। अपनी युक्तियों और विद्या के बल पर उन को पराजित कर राजा को वेद-मत का अनुयायी बनाया और फिर इस राजा की ही मदद से सारे देश को सच्चे मार्ग पर लाया। इतिहास में ऐसी घटनाओं की कमी नहीं, जो इस बात की साक्षी हों, कि प्रजा को किसी मत पर पूर्णतया दृढ़ रखने के लिए उस मत का धर्म ही राज्य धर्म होना चाहिए। धर्म-त्राता की सदैव आवश्यकता रहती है। अन्य धर्मी राज्य में अच्छे से अच्छा पंथ भी बिगड़ कर भयानक रूप अपना लेता है। परन्तु इस समय तो भारत एक बड़ी विस्मय जनक अवस्था में प्रवेश कर रहा है। केवल राज्य-धर्म ही भिन्न नहीं। यहाँ पर तो अब देश को अपनी संस्कृति अथवा सभ्यता को भी जवाब मिलने वाला है। चार सहस्र कोस की दूरी के जीवन-सम्बन्धी विचार-धारा और रहन-सहन का तरीका जारी हो गया है। बोली भी बदलने लगी है। शासित सदा शासक की नकल ही किया करते हैं। पराजित देशों के इतिहास भी तो बदल जाया करते हैं। अपनी भाषा अपना इतिहास और अपने

पूर्वजों की कृतियों को भूल कर शासित हीनभावना के शिकार हो जाते हैं। और फिर हीन-मनोभाव के उत्पन्न हो जाने से अपने पूर्वजों पर गंदगी उछालने पर भी उतर आते हैं। ऐसी ही स्थिति हमारे देश की हो रही है। परन्तु इस का इलाज क्या हो सकता है। इस वक्त देश में न सच्चे ब्राह्मण हैं, जो पठन-पाठन में लगे हों। और जो हैं भी, वह विरुद्ध भ्रष्टाचार का पाठ पढ़ा रहे हैं। बिना पढ़ने-पढ़ाने के ब्राह्मण बना रहने के लिए जात-पात का बखेड़ा चला कर जन्म के साथ ही चार वर्णों को बांधा हुआ है। यह वेद के उस कथन को क्यों नहीं याद करते कि जहां पर वेद सब को आदेश करता है, कि

"अज्येष्ठासो अकनिष्ठास, एते सम्भ्रातऐ वावृधुः सौभगाय"

अर्थात् हे, मनुष्यो आप में जन्म से कोई छोटा है, और न कोई बड़ा। इस लिए जीवन में सुख और आनन्द के लिए मिल कर सहयोग से अपने-अपने कर्त्तव्यों का पालन करो।

मानव जाति का वर्ण-विभाग वेद अनुसार मनुष्यों की योग्यता तथा स्वभाव से है, जन्म से नहीं। वास्तव में जन्म से शूद्र ही माने जाते हैं, इनमें जो विद्वान त्यागी होते हैं, और विद्या को फैलाते हैं, ब्राह्मण कहलाते हैं। तीसरे तीनों वर्ण इनका ऋण चुकाने के लिए अपने हृदयों में इनके लिए मान प्रतिष्ठा बनाए रखते हैं। क्षत्रिय देश के रक्षक होते हैं। वैश्य देश-देशान्तरों में व्यापार कर अपने राष्ट्र के लिए धन सामग्री को बनाये रखते हैं। और जो लिख पढ़ न सकें, साधारण बुद्धि वाले हों, शूद्र कहलाते हैं। किसी जाति का इस तरह का विभाजन केवल प्राकृतिक ही नहीं, आवश्यक हुआ करता है। परन्तु हमारे देश-वासियों ने इनको केवल जन्म से ही सम्बन्धित नहीं किया, इनमें प्रमाद भी भर दिया है, अर्थात् सब वर्णों के व्यक्ति कर्त्तव्यों को अकर्त्तव्यों और अकर्त्तव्यों को कर्त्तव्य मान कर अपना जीवन-चर्या बनाये हुए हैं। निरक्षर पण्डित बने हुए हैं। अनपढ़ ब्राह्मण गुरु कहलाते हैं। और जो कुछ पढ़े हुए हैं उनका काम वेद विरुद्ध शास्त्रों को घड़ना है। अन्य धर्मी शासक-वर्ग को खुश करने के लिए और उनसे कुछ पुरस्कार आदि पाने के लिए वेद विरुद्ध-

सिद्धान्तों का प्रचार कर जाति की गुलामी की जंजीरों को मजबूत करते जा रहे हैं। खान-पान और छूत-छात का एक बड़ा भारी बखेड़ा खड़ा कर रखा है। यह वह रोग है, जो जाति को घुन की तरह खाए जा रहा है। इस रोग ने अज्ञानता में जन्म लिया, पराए राज्य में फला फूला, और अब तो यह भी डर है, कि कहीं इसी रोग के कारण जाति फिर अपने पावों पर खड़ी ही न हो सके। खान-पान के टंटे से देश देशान्तरों के साथ व्यापार छूटा। वैश्य वर्ण कमजोर हो गया। दरिद्रता का मुंह देखना पड़ा। क्योंकि यदि स्वदेश ही में स्वदेशी व्यवहार करें और परदेशी स्वदेश में व्यवहार व राज्य करें तो बिना दरिद्रता और दुःख के दूसरा कुछ भी नहीं हो सकता। पाखण्डी लोग यह समझते हैं, कि जो हम इनको विद्या पढ़ावेंगे और देश-देशान्तर में जाने की आज्ञा देवेंगे, तो यह बुद्धिमान होकर हमारे पाखण्ड जाल में न फंसने से हमारी प्रतिष्ठा और जीविका नष्ट हो जाएगी। परन्तु महाभारत में स्पष्ट लिखा है, कि जब महाराजा युधिष्ठिर ने राजूसूय यज्ञ किया था, उसमें सब भूगोल के राजाओं को बुलाने के लिए निमन्त्रण देने के लिए भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव चारों दिशाओं में गए थे। जो दोष मानते होते तो कभी न जाते। और ऐसी बातों में अधर्म है ही क्या? यह तो हमारे आत्मा और कर्त्तव्य के साथ है। चौके में खाना भी इसी छूत-छात की एक शाखा है। जिसने क्षत्रियों को भी कमजोर कर दिया है, और जिससे कि यह कई बार पराजय को भी प्राप्त हुए। क्या यह भी कोई सनातन यथार्थ का अंश है, नहीं, नहीं। क्षत्रिय लोग तो युद्ध में एक हाथ से रोटी खाते, जल पीते जाते और दूसरे हाथ से शत्रुओं को घोड़े, हाथी, रथ पर चढ़ या पैदल हाके मारते जाना और अपनी विजय करना ही आचार और पराजित होना अनाचार समझते थे। ऐसी चौके रसोई के भ्रम में पड़ कर भारतवासी "चौका लगाते लगाते विरोध करते कराते सब स्वातन्त्र्य आनन्द, धन, राज्य, विद्या और पुरुषार्थ पर चौका लगाकर अब हाथ पर हाथ धरे बैठे हैं। देश की कैसी अजीब स्थिति हो गई है। अभी कोई दस वर्ष ही हुए होंगे, कि हम ने अपनी शक्ति

की परीक्षा ली। परदेशियों के चंगुल से निकलने के लिए यत्न किया। परन्तु हम अपनी त्रुटियों के कारण कुछ न कर सके। ईसवी सम्वत् १८५७ के विद्रोह से यह भी स्पष्ट हो गया कि जब तक देश में एक मत एक हानि-लाभ, एक सुख-दुःख परस्पर न मानें, तब तक उन्नति होना बहुत कठिन है। किन्तु विदेशियों के आर्य्यवर्त्त में राज्य होने के कारण ही यह सब बुराइयाँ अर्थात् आपस की फूट, मतभेद, ब्रह्मचर्य का सेवन करना. विद्या न पढ़ना-पढ़ाना, बाल्यावस्था में अस्वयंवर विवाह, विषयासक्ति, मिथ्याभाषणादि कुलक्षण, वेद विद्या का अप्रचार आदि कुकर्म उत्पन्न हो गये हैं। यही कुकर्म ही किसी जाति की पराजय के हेतु हुआ करते हैं। क्योंकि जब दो भाई आपस में लड़ते हैं, तभी तीसरा विदेशी आकर पंच बन बैठता है। क्या यह सब लोग महाभारत की बातें जो पाँच सहस्र वर्ष पहले हुई थीं, भूल गए हैं ? क्या यह नहीं देखते, कि महाभारत युद्ध में सब लोग लड़ाई में सवारियों पर खाते-पीते थे। क्या कभी भारतवासी इसकी तरफ ध्यान देंगे, कि जिस फूट से कौरव पाण्डव और यादवों का सत्यानाश हो गया सो हो गया, परन्तु वही रोग अब तक भी पीछे लगा हुआ है। शोक है कि देशवासी अब भी नहीं समझ रहे कि यदि इस भयंकर राक्षस से हमें छुटकारा न मिला तो यह आर्यों के रहे-सहे सब सुखों से दूर हटा दुख-सागर में डुबो मारेगा। मारेगा नहीं, वास्तव में मार ही दिया है। राज गया, पाठ छूटा, संस्कृति गई। भाषा और सभ्यता अब दूर से आ रही है। दरिद्रता और दुर्बलता दोनों बहिनें समक्ष उपस्थित हैं। देश नरक समान है, और हो भी क्यों न। कारण कार्य का सिलसिला अटूट है। जिस जाति ने अपने ही विरुद्ध कपट-नाटक रच रखा हो, उसकी कौन सहायता कर सकता है। जो कोई भी उस टहनी को काट रहा हो, जिस पर आप बैठा हुआ है, ऐसे व्यक्ति को गिरने से कौन बचा सकता है। ठीक है, कर्म का फल अब अवश्य भोगना है। क्या यह कर्म का फल चलता जाएगा ? नहीं-नहीं। उस का अंत है। हम अब अपने कर्मों को संवार कर आगे जन्म लेने वाली आत्माओं के लिए भारत को स्वर्ग-भूमि बना सकते हैं। परन्तु अब मेरे सामने प्रश्न है,

कि लोगों के मनों में ऐसी आवृत्ति कैसे हो। क्या मैं अकेला इस सारे बोझ को उठा सकता हूँ ? श्री शंकराचार्य ने भी देश-वासियों के मन्त्रों का परिवर्तन अकेले ही किया था। मेरे पास तो पन्द्रह और व्यक्ति हैं। किन्तु यह किस काम के। इन को भी तो अभी रास्ता दिखाना है। इन को अपने कर्त्तव्यों की ओर ध्यान दिलाना है। और फिर यह भी बात है, कि शंकराचार्य के समय में और अब के समय में बड़ा अन्तर है। बे-शक उस वक्त भी वेद विरुद्ध मत थे। लोग वेद के नाम पर कुरीतियों को देख कर ही इस की ओर से मुख मोड़े हुए थे। परन्तु अपने देश की संस्कृति को बनाए रखने के लिए प्रस्तुत थे। शंकराचार्य ने उन के सामने वेद का सच्चा रूप रखकर उन के मनों को बदल डाला। परन्तु मैं उस से बड़ा दूर खड़ा हूँ। मेरे सामने परिस्थियां और हैं। पराए राज्य के कारण प्रजा पर एक गूढ अंधकार का आवरण सा पड़ा हुआ है, जिस के कारण सत्य को जान नहीं सकते और अगर जान भी लें, तो कुछ कह नहीं सकते और न कुछ अदल-बदल कर सकते हैं। अहो, मेरे में यह लघुमन्यता कहां से आ रही है। एक सर्व-व्यापक ईश्वर और उस की वेद-वाणी में पूर्णतया विश्वास रखने वाला कोई भी व्यक्ति ऐसी निराशा प्रकट नहीं कर सकता। तो फिर मैं क्या सोच रहा हूँ ? क्या स्वामी विरजानन्द का आशीर्वाद मेरे साथ नहीं है ? कभी वैदिक धर्म ही सार्वभौमिक धर्म था। और उस धर्म का स्रोत यही आर्यावर्त्त था। यहां के ही ऋषियों के माने और जाने हुए सब सिद्धान्त लोकप्रिय थे। उस समय उन ऋषियों की क्यों मान्यता थी ? उन में क्या खूबी थी ? वह ऋषि महर्षि वेदों के जानने वाले थे, शास्त्रतत्वज्ञ भा थे और शास्त्र-कर्ता होने के अतिरिक्त तपस्वी और त्यागी भी थे। यह पूर्णतः सिद्ध है, कि कोई सुधारक अपने कार्य की पूर्ति नहीं कर सकता, जब तक कि वह तप और त्याग की परीक्षा में पूर्ण तौर से उत्तीर्ण न हो जावे। अगर यह सत्य है तो फिर धर्म शोधक और उस के प्रवर्तक के लिए यह दोनों अर्थात् तप और त्याग अनिवार्य होने चाहियें। मेरे लिए तो एक और कठिनाई भी दिखाई देती है। लोगों के दिलों में प्रतिकूल प्रभाव सत्य का रूप धारण किए

बड़े वेग से लहरें मार रहा हैं । पूर्व धारणान्वित मनों का सीधे रास्ते पर लाना कोई आसान काम नहीं । जब बैलगाड़ियाँ किसी कच्ची सड़क पर लगातार चला करती हैं, तो सड़क पर गहरी रेखाएँ पड़ जाया करती हैं । कुछ समय के बाद वह ऊँची-नीची होने के कारण बैलों को गाड़ियों को खींचने में दुःख भी होता है । परन्तु बैलों में इतनी सामर्थ्य कहाँ, कि इन टेढ़े-मेढ़े बने हुए रास्तों को तोड़ कर गाड़ी को पथ पर ला सकें, ऐसा करना किसी महारथी का ही काम हो सकता है । मेरे सामने आए हुए कार्य की पूर्ति के लिए उस महान् योद्धा की आवश्यकता है, जो अकेला तीस करोड़ धनुर्धरों से लड़ सके । क्या यह सम्भव है ? क्या मेरे में पूर्ण त्याग की समाई हो चुकी है ? अगर ऐसा है, तो फिर कुम्भ में आने वाले यात्री मेरी बात को क्यों नहीं सुनते ? इस से जान पड़ता है, कि मेरा त्याग पूर्ण नहीं । ठीक है, क्योंकि अगर यह पूर्ण होता, तो इस आन-बान की क्या ज़रूरत । इन झोंपड़ियों के क्या अर्थ ? इस वक्त मेरे साथी तो कच्ची रसोई किसी ब्राह्मण के हाथ की बनी हुई मिलने पर ही खाते हैं । शूद्र के हाथ की, जिन का ऐसी सेवा करना काम है, क्यों नहीं खाते ? क्या वह अछूत हैं ? हरगिज़ नहीं । यह तो वेद विरुद्ध चलन है । इस को मैंने क्यों नहीं छोड़ा । अपने कार्य की सफलता के लिए यह त्रुटि भी दूर करनी होगी । हर प्रकार से ईश्वर परायण होना होगा । इन साथियों को भी छोड़ना होगा, भारत को फिर से स्वतन्त्र करने के लिए, इस को वेद मार्ग पर चलाने के लिए और गुरु की आज्ञा को पालने के लिए अब मुझे कोई निश्चयात्मक कदम उठाना ही पड़ेगा । ईश्वर प्रणिधान को व्यवहार रूप देने के लिए और तपस्या अनिवार्य हैं । ऐसा सोच कर स्वामीजी एक अन्तिम निश्चय पर पहुँचे, जिस के पश्चात् उन्होंने अपनी सम्पत्ति को अपने सामने रखा । वेद भाष्य और पैंतीस रुपये अपने गुरु विरजानन्द के पास पहुँचाए । बाकी धन अपने योग्य साथियों में बाँट कर, केवल एक कौपीन के साथ हरिद्वार को छोड़ कहीं एकान्त में तपस्वी होकर देश की त्रुटियों और उन के संशोधन के साधनों के ध्यान में मग्न हो गए ।

स्वामी दयानन्द अब हरिद्वार को छोड़ ऋषिकेश आ गए। यहां पर इस के इर्द-गिर्द के स्थानों में एकान्त-वास किया। कुछ समय तक पूरे त्याग सहित घोर तपस्या की। सोच-विचार किया। अपनी सम्प्रज्ञात समाधि में वह उस काल को ध्यान में लाए, जबकि वेद का ज्ञान ऋषियों के हृदयों में अवतीर्ण हुआ था। फिर उन की दृष्टि बहती हुई गंगा के धारा के साथ-साथ चली, और आर्य्यवर्त्त के उस स्थल पर आ पहुँची, जहाँ पर वेद-पाठीं वेद पाठ करते हुए अपनी ऊँची-ऊँची ध्वनियों से सारे संसार में वेद का आदेश पहुँचा रहे थे। मानो दुनिया के इस स्थान पर वेद रूपी वृक्ष को पल्लवित, पुष्पित और सुरक्षित रखने के लिए एक न्यास या ट्रस्ट बना हुआ था और जिस की न्यासता यहाँ के ऋषियों-मुनियों और संन्यासियों के हाथ दे रखी हो। और यह भी अपने इस कार्य को अपना कर्त्तव्य समझ कर ही सफलता-पूर्वक करते जा रहे हों। ब्रह्मा से लेकर जैमिनी ऋषि तक उन्होंने ऐसा एकसा ही सिलसला देखा। इस के पश्चात् वातावरण बदलता हुआ दिखाई दिया। ज्ञान की घटती और अज्ञान की बढ़ती स्पष्ट देखी। लेकिन फिर पूर्ण अज्ञानता का परदा छाया हुआ दिखाई दिया। अंधकार रूपी कूप में पड़े हुए अपने देशवासियों को, जिनको कूप-मण्डूक बनना ही अच्छा मालूम हो रहा था देखा। सोचा कि इसका क्या कारण हो सकता है ? नास्तिकता के अतिरिक्त और क्या समझा जा सकता है। क्या भारतीय अब परमात्मा को नहीं मानते ? नहीं तो। अधिकतर मानते तो हैं, परन्तु जानते नहीं। उसके वास्तविक गुणों से बे-खबर हैं। और जो उसके ठीक-ठीक गुणों की ओर से उपेक्षित हैं वह उसकी बुराई ही करते हैं। ईश्वर सच्चिदानन्द स्वरूप निराकार सर्वशक्तिमान न्यायकारी, अजन्मा, अनन्त अनादि सर्वांतर्यामी वेद का रचयिता और सृष्टिकर्ता है। जो कोई भी ऐसा नहीं जानता, वह उस की निन्दा ही करने वाला हुआ करता है। भला यह तो सोचो, कि ऐसा ईश्वर जो हर जगह व्यापक हो, उस का मन्दिर कैसे बनाया जा सकता है ? उसकी मूर्ति कैसे बनाई जा सकती है। वह माया या अल्पज्ञ जीव के वश में कैसे आ सकता है ? क्या उस को ऐसा समझना

नास्तिकता नहीं, तो नास्तिकता और है ही क्या ? परन्तु कुछ विद्वान् भी तो कहते हैं, कि हम ईश्वर के गुणों को ठीक-ठीक समझते हैं। परन्तु मूर्ति पूजा आदि केवल उस निराकार को जो ध्यान में लाया जा सकता, ध्यान में लाने का एक साधन ही तो समझा जाता है। बुद्धि के स्थिर रखने हो जाने पर, इस को छोड़ दिया जाता है। जैसे बालिकाएँ गुड्डियों के साथ तब तक खेलती हैं, जब तक कि वह बड़ी होकर अपना वास्तविक घर नहीं बना लेतीं। कैसी अजीब युक्ति है ? क्या परमात्मा के वास्तविक ज्ञान के लिए यह सारी सृष्टि गुड़िया का काम नहीं कर सकती ? सूरज, चाँद, तारे, गृह और इस पृथ्वी पर पहाड़, समुद्र, नदी, नाले आदि ही वस्तुएँ हैं जिन से खेल कर हम इन के कर्त्ता का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। किसी मूर्ति से अनन्त और अनादि विशेषणों का क्या ज्ञान हो सकता है ? कुछ भी नहीं। ब्रह्म-ज्ञान के लिए मूर्ति-पूजा स्थूल लक्ष्यवत् नहीं, किन्तु सृष्टि-विद्या है। धार्मिक विद्वान् इस को बढ़ाते-बढ़ाते ब्रह्म को भी पा लेते हैं। और यह भी है, कि मूर्ति गुड्डियों के खेलवत् नहीं, किन्तु प्रथम अक्षराभ्यास, सुशिक्षा का होना गुड्डियों के खेलवत् ब्रह्म की प्राप्ति का साधन है। बस यही नास्तिकता इस आर्य्यवर्त्त की गिरावट का कारण हो रही है। इस को दूर किये बिना न देश की एकता हो सकती है और न स्वतन्त्रता का मुंह देखा जा सकता है। तो फिर लोग ठीक तौर पर ईश्वर की पूजा करते क्यों नहीं ? क्या यह कोई कठिन समस्या है ? वह आर्य्य जो वेद न्यास के न्यासी (ट्रस्टी) बनाए थे कहाँ हैं ? वह फिर से वेद-नाद क्यों नहीं सुनाते ? क्या वह किसी भूल में हैं। क्या अपनी उत्तरदायित्व को पूर्णतः भूल चुके हैं। हाँ अब इन को याद दिलाए, तो कौन ? इन को सच्चा ईश्वर बताए, तो कौन ? आखिर संन्यासी भी तो वेद मार्ग के दिखलाने वाले होते हैं। इसी लिए यह भी वेद के सच्चे न्यासी (ट्रस्टी) माने जाते हैं। तो फिर मैंने ऐसा एकांत वास क्यों कर रखा है ? मैंने ऐसा निवृत्ति मार्ग क्यों अपना रखा है। क्या यह वेद का उद्देश्य नहीं कि केवल बुरे कर्म का करना ही पाप नहीं, अच्छे कर्म का न करना भी पाप है। इस लिए यह स्पष्ट है, कि

किसी का निवृत्त-वृत्ति वाला होना भी बड़ा भारी दुष्कृत्य ही है। इस तरह पर सोच-विचार कर ऋषि अपना एकान्त वास छोड़ फिर मैदान में आ विराजे और लोगों को सच्चे ईश्वर की पूजा का उपदेश देने लगे।

ऐसा सोच कर अब ऋषि दयानन्द ने ऋषिकेश से आ पहले-पहल कनखल के पास डेरा किया और फिर नदी के किनारे-किनारे चलते हुए कई एक ग्राम देखे। इस समय में भी वह केवल एक लंगोटी पहनते थे। बिना माँगे जो जो कुछ मिल जाए, खाते थे। सख्त सरदी में बिना किसी कपड़े के और बिना छत के खुले मैदान में सोते थे। परन्तु जहाँ ठहरते, वहीं लोगों के झुण्ड के झुण्ड इकट्ठे हो जाते। चरणों को छूते, भक्ति भाव से दर्शन करते और उपदेश के लिए प्रार्थना करते। याद है आपको कि एक वह भी समय था, जब स्वामी जी विद्वत्तापूर्ण उपदेश देने के लिए खड़े हैं, लाखों की संख्या में स्त्री-पुरुष उपस्थित हैं, परन्तु सुनने को कोई तैयार नहीं। उस समय की अब से तुलना करो, जब कि लोग उपदेश के लिए दौड़े आ रहे हैं। जानते हो इस का क्या कारण है? तप और त्याग। कोई व्यक्ति चाहे कितना ही विद्वान क्यों न हो जब तक वह अपने उपदेश का पूर्णतया मूर्तिमान नहीं हो जाता या अपने जीवन को अपने उपदेश के अनुसार ढाल नहीं लेता, तब तक उस का उपदेश कोई नहीं सुनता, और अगर कोई सुनता भी है, तो उस की कोई फल सिद्धि नहीं हो सकती।

जैसा पहले वर्णन किया गया है, स्वामी जी देश की उन्नति और सुख के लिए सब की एकता का होना जरूरी समझते थे। ऐसी स्थिति के लिए उन्होंने जो योजना बनाई, उसके अनुसार प्रथम कार्य यह था कि देश-वासियों (विशेष कर हिन्दू जाति) को सम्प्रदाय-देवताओं की पूजा से हटा कर एक सर्वव्यापक परम्परा की पूजा में लगाया जावे। जब तक देश का एक पूज्य-देव नहीं होता, एकता फर्जी और बे-मानी है। ऐसा सोच कर, अब आपने जनता को मूर्ति-पूजा के छोड़ने और निराकार परमात्मा के पूजन का उपदेश देना आरम्भ कर दिया। इस के लिए उन्होंने इच्छुक लोगों के यज्ञोपवीत संस्कार कराये। अर्थ सहित

गायत्री मन्त्र का पाठ पढ़ाया और सदाचार जीवन व्यतीत करने के लिए प्रण भी कराये। इस प्रकार कुछ लोग इन के अनुयायी भी हो गए। परन्तु अधिकतर जिन में कई सम्प्रदायों के सदस्य विशेषकर मन्दिरों के पुजारी थे, स्वामी जी के बड़े द्वेषी भी हो गये। और हर प्रकार से इन की जान लेने के लिए षडयन्त्र भी रचने लगे। परन्तु यह कोई आश्चर्य जनक घटना समझी नहीं जा सकती, क्योंकि ऐसी घटनाओं का होना अवश्यम्भावी है। यह प्राकृतिक नियम है, कि प्रत्येक क्रिया की प्रतिक्रिया हुआ करती है। जब हम जमीन पर खड़े होते हैं, तो हम अपने भार के कारण जमीन पर बल लगाते हैं, जमीन की सतह को नीचे धकेलते हैं। जमीन भी अपने प्रतिबल से हमारी क्रिया का प्रतिरोध करती है। अगर ऐसा न करे, तो हम जमीन में धंस जावें; जैसा कि दलदली जमीन पर खड़े होने से होता है। इसी प्रकार किसी सुधारक की क्षमता की माप-तोल उस वक्त की उत्पन्न हुई प्रतिक्रियाओं से होती है। पूर्व धारणा के प्रतिकूल प्रभावों के मुकाबले में आना कोई आसान काम नहीं बड़े आध्यात्मिक बल की आवश्यकता है। नैतिक उद्देश्य का होना भी जरूरी है। महापुरुषों का आत्मिक बल अथवा शारीरिक योग्यता स्वप्न अवस्था में तब तक प्रत्यक्ष नहीं होती, जब तक कि यह कार्य क्षेत्र में आकर अपनी प्रतिक्रियाओं से टक्कर नहीं लेती। जितना-जितना इन का अधिक प्रतिरोध होता है, उतने ही अधिक बल का प्रदर्शन होता है। इस प्रसंग में स्वामी जी के इस समय के जीवन की दो घटनाए वर्णनीय हैं।

**कर्णवास गांव की घटना :—**

स्वामी जी जब इस तरह वैदिक धर्म का प्रचार करते हुए कर्णवास गांव में पहुंचे, तो वहां के एक प्रसिद्ध जमीदार ने अग्निहोत्र यज्ञ रचाया। यह यज्ञ चालीस ब्राह्मणों ने स्वामी दयानन्द की अध्यक्षता में पूर्ण किया। दूर-दूर से लोग आकर इस में सम्मिलित हुए। स्वामी जी ने अपने उपदेश में यह स्पष्ट किया, कि ईश्वर की सच्ची भक्ति का पहला अंग सदाचार है। पांच यम और पांच नियमों का पालन अनिवार्य है। बिना इनके भक्ति के कुछ अर्थ नहीं। परन्तु इनमें सफलता

तब ही हो सकती है, जब आप सर्वव्यापक परमात्मा को अपने हृदय मन्दिर में ढूंडोगे। मन्दिर की मूर्तियों में नहीं। इस प्रकार स्वामी जी अपने प्रवचनों से यहाँ के लोगों को कृतार्थ करने लगे। सुनने वालों और इन पर श्रद्धा रखने वालों की संख्या भी प्रतिदिन बढ़ने लगी। परन्तु पुजारियों ने इस से अपनी जीविका को खतरे में देखा। स्वार्थ में आकर अपने कुछ अनुयायिओं और प्रतिक्रियावादियों को भड़काना आरम्भ कर दिया। स्वामी जी को हिन्दू जाति का शत्रु बता कर कुछ मूर्ख लोगों को उन का विरोध करने के लिए उभारा। आखिर एक ऐसा व्यक्ति उन को मिल ही गया। यह था राव कर्णसिंह, बरेली का एक ऐश्वर्य-सम्पन्न जमीनदार। एक दिन जब स्वामी जी प्रवचन कर रहे थे, तो यह आकर उनके सामने खड़ा हो गया। इस वक्त इस ने भौंएं चढ़ाई हुई थीं। आखों में लाली थी। होंट फड़फड़ा रहे थे। कमर के साथ तलवार थी और माथे पर वैष्णव सम्प्रदाय का तिलक था। स्वामी जी ने इसे देखा, और बैठने के लिए कहा, और साथ यह भी कहा, कि आप एक क्षत्री कुल के मालूम होते हैं, किन्तु यह ललाट पर भिखारियों के चिह्न के क्या अर्थ हैं। इस पर कर्णसिंह क्रोधावेश में होकर बोला, कि कहाँ बैंठूं? इस पर स्वामी जी ने उत्तर दिया, कि जहां स्थान हो और जो अच्छा लगे, बैठ जाओ। नहीं, नहीं मैं आपके स्थान पर बैठूंगा। इस पर स्वामी जी अपने स्थान को छोड़ पास खड़े हो गए और वह मूर्ख वहां बैठ कर लगा गाली गलौच बकने। इस पर वहां उपस्थित आदमियों ने उसे रोका। इस पर खड़ा हो उसने तलवार खैंच संन्यासी पर वार किया। स्वामी जी ने उस के हाथ से तलवार ले अपने दोनों हाथों से इसे मोड़ कर दो टुकड़े कर दिये। अब उनकी ऐसी शक्ति को अनुभव कर कर्णसिंह लज्जा से अपने साथियों सहित वापस लौट गया। परन्तु स्वामी जी का विरोध करना नहीं छोड़ा। और इन की जान लेने के लिए कई प्रकार के षडयन्त्र रचता रहा। यह मामला ऐसा ही चलता रहा, परन्तु जब ठाकुर कृष्ण सिंह ने जो उस स्थान के एक रईस थे, यह घोषणा कर दी कि अगर कर्णसिंह ने स्वामी जी के विरुद्ध अपनी करतूतों को न छोड़ा, तो मैं यह प्रण करता

हूँ, कि मैं भी उसे यहां से निकाल कर ही दम लूंगा। इस पर कर्णसिंह को अपने दुष्टाचार को छोड़ना ही पड़ा।

एक ब्राह्मण पुजारी ने भी स्वामी जी को पान में विष दिया था। परन्तु ऋषि ने न्योली क्रिया से पेट और आँतों को धोकर विष को निकाल दिया। विष देने वाला पुजारी पकड़ा गया। जब श्री सय्यद मुहम्मद ने जो वहां के मैजिस्ट्रेट थे, स्वामी जी को इसकी खबर दी, तो स्वामी जी ने तत्काल कहा कि मेरा कार्य मनुष्य जाति को हर प्रकार की कैद से छुड़ाना है, न कि अपने लिए इन को बन्दी खाने में धकेलना है।

कर्णसिंह के मामले में भी स्वामी जी ने ऐसी ही युक्ति उन लोगों के समक्ष रखी थी, जिन्होंने यह कहा था, कि उस अपराधी को दण्ड दिलाने के लिए दण्ड न्यायालय में उसके विरुद्ध मुकद्दमा चलाया जावे। स्वामी जी ने उनका उत्तर देते हुए कहा था, कि अगर कर्णसिंह क्षत्रिय वंश का होकर अपने कर्त्तव्य को भूल गया है, तो क्या मैं अपने ब्राह्मण कर्म को छोड़ दूं ? और फिर जिसके राज्य में मैं वास कर रहा हूँ, उस के न्यायाधीश के पास न तो जाने की जरूरत हुआ करती है और न शिकायत करने की आवश्यकता रहती है, क्योंकि वह सर्वव्यापक और न्यायकारी है। उसके राज्य में रहने वालों को किसी का डर-भय आदि नहीं हुआ करता। इतिहास में आया है, कि स्वामी जी को अपने जीवन में कोई तेरह बार विषय दिया गया था, परन्तु उन्होंने ऐसी घटनाओं का कभी परिवाद नहीं किया। और करते भी क्यों ? वह अच्छी तरह जानते थे, कि मेरे देश-वासी अज्ञानता में फंसे हुये हैं। इसी कारण यह हर प्रकार से आधीन हो चुके हैं। इन्हें अंधकार से निकालना ही तो मेरा काम है। अगर इनकी ऐसी स्थिति न होती तो मेरे इन उपदेशों की क्या आवश्यकता थी ?

उपर्युक्त विवरण में विरोध करना तो केवल कुछ स्वार्थियों और मूढ़ लोगों का ही हो सकता है, परन्तु इतिहास साक्षी है, कि उस वक्त के विद्वानों ने भी विद्वेष दिखाया कारण यह कि आर्य अथवा हिन्दू जाति वेदों को ईश्वरीय ज्ञान मानती हुई ही चली आई है। इसलिये

यह अपने रीति-रिवाजों को वेदों के अनुकूल समझ कर ही इनमें प्रवृत्त होती है। और वेदों का न्यासी होने का इसे अभिमान भी है। परन्तु काल के प्रभाव से और अन्य धर्मों के पराधीनता में रहने से इसमें कुछ त्रुटियाँ भी आ गई हैं, जो इसके वेद विरुद्ध रसम-रिवाजों में प्रत्यक्ष दिखाई दे रही हैं। ऐसी रीतियों को इस वक्त के विद्वान दूर तो न कर सके, लेकिन इनको वेद अनुकूल और वेद अनुसार बता कर लोगों को इनमें प्रवृत्त रहने के लिये उपदेश करते रहे। दूसरे यह भी है, कि अन्य धर्मी शासकों ने जब अपने पराधीन हिन्दुओं के इस अभिमान को तोड़ने के लिये वेद पुस्तकों का नाश करना शुरू किया,तो उस वक्त के ब्राह्मणों ने इनको धारण कर अर्थात् स्मृति में रख कर रक्षा की, परन्तु कुछ समय के पश्चात् इनके वास्तविक अर्थों को भूल गए। फिर बाद में कुछ विद्वानों ने जैसे महीधर और सायण ने ऐसे रिवाजों के आधार पर ही वेदों का टीका कर जाति के साथ बड़ा विद्रोह किया। बुरे रसम-रिवाज की जड़ें पाताल तक पहुँचा दीं। मूर्त्ति पूजा यज्ञों में जीवों की हत्या करनी और मांस आदि का भक्षण वेदों के अनुकूल मान कर बड़े गौरव से लोग इनमें प्रवृत्त होते हुए चलनें लगे और विद्वान लोग भी इनके समर्थक हो गए। ऐसी स्थिति के कारण जब स्वामी जी ने इनके विरुद्ध आवाज उठाई, तो उस समय के पंडितों ने स्वामी जो के विरुद्धवाद-युद्ध की घोषणा कर दी।

४

# वाद-युद्ध

ज्यों-ज्यों पुजारियों और उनके सहायकों का विरोध बढ़ता गया उतनी प्रबलता से स्वामीजी की वेद प्रचार की ध्वनि दूर दूर तक सुनाई देने लगी। लोग हैरान थे, और सोचते थे, कि क्या हमारे सारे धार्मिक कर्म कार्य वेद के प्रतिकूल हो रहे हैं? ऐसी शंका के संबंध में निश्चय करने के लिए उन्होंने अपने पंडितों की ओर देखा। उस वक्त के माने हुए विद्वानों, शास्त्रज्ञों और वेदज्ञों की ओर अपनी दृष्टि दौड़ाई। परन्तु यह बात जानने योग्य है, कि उस वक्त के वेदज्ञ कौन थे? यह तो आप समझते ही हैं, कि जिस समय की हम वार्ता कर रहे हैं, उस वक्त संस्कृत साधारण लोगों के लिए एक मृत भाषा हो चुकी थी। कोई संस्कृत में बोला हुआ शब्द अथवा श्लोक किसी वेद का या किसी प्रसिद्ध धर्म शास्त्र का आदेश ही माना जाता था। थोड़ा बहुत इस भाषा का ज्ञान रखने वाले ही विद्वान अथवा वेदज्ञ माने जाते थे। यह बात सिद्ध है, कि जहाँ पीपल और बड़ जैसे वृक्ष नहीं होते वहाँ पर एरंड ही वृक्ष माना जाता है। थोड़ा जानने वालों में अहंकार अधिक हुआ करता है। अहम्मन्यता का दोष भी कूट कूट कर भरा होता है, जिसके कारण वह सत्या-सत्य का निर्णय नहीं कर पाते। दूसरे के गुणों की जांच भी नहीं कर सकते। इसी कारण ऐसे विद्वान स्वामी जी की विद्वत्ता को भी समझ न पाऐ। इस के अतिरिक्त ऐसे विद्वानों के सामने यह प्रश्न भी था, कि अपने अनुयायिओं के प्रति उत्तर-दायी होने के नाते, अपने वताए हुए सिद्धान्तों पर उन्हें कैसे स्थिर रखा जाए। इस लिए उन्होंने सोचा कि अगर हम स्वामी जी के वेद-वाद को बन्द नहीं कर पाएंगे तो हमारी एक तो नाक कटेगी, और मान प्रतिष्ठा भी जाती रहेगी। इस के अतिरिक्त

आजीविका को भी खतरा हो जाएगा। और फिर यह एक संन्यासी ही तो है। कुछ थोड़ा-बहुत इधर उधर से जान कर एक हुल्लड़ सा मचा रखा है। इस की ध्वनि को शांत करना कौन सा भारी काम है। इस के संबंध में स्वामी जी की जीवनी की एक कथा है, कि जब स्वामी जी काशी (वाराणसी) में पहुँचे, तो वहाँ लोगों में बहुत हलचल सी मच गई। लोग स्वामी जी के दर्शनों के लिए भागे आ रहे थे। ऐसा देख कर एक पण्डित राजाराम ने तुरन्त ही वाद-युद्ध के लिए ललकारा, और साथ ही यह शर्त ठहराई, कि शास्त्रार्थ के समय एक चाकू तैयार रखा जावे, जिस से कि हारने वाले की नाक काट दी जावे। स्वामी जी ने इस शर्त को तत्काल मान लिया, किन्तु साथ यह भी कह दिया, कि हारने पर शरीर के जिस अंग का दोष हो, उसे काटना चाहिये। इस के संबंध में अगर कोई अवयव कुसूरवार हो सकता है, तो वह जिह्वा ही है, इस लिए हारने वाले की ज़बान काट देनी चाहिये। स्वामी जी की ऐसी निडरता और दृढ़ता को देख कर वह किसी प्रकार का शास्त्रार्थ करने से घबरा गया। और अपने घर की राह पकड़ी। यह ठीक है, कि जिनको कुछ वास्तविक ज्ञान होता है, वह न तो ऐसी प्रतिज्ञा कर अपना मूढ़पन दिखाते हैं, और न ही सत्यासत्य के निर्णय करने से घबराते हैं। स्वामी जी के इस शर्त के मानने का केवल यही कारण था, कि ऐसे मूर्खों के हल्ले-गुल्ले को काबू में रखना जरूरी है। वास्तव में वह ऐसे वाद-युद्ध की उपेक्षा ही रखते थे। उन का कहना है, कि "मनुष्य जन्म का होना सत्यासत्य के निर्णय करने कराने के लिए है, न कि वाद-विवाद विरोध करने कराने के लिए।" स्वामी जी के ऐसे विचारों का व्यवहारिक रूप देखने के लिए चांदपुर में हुए एक शास्त्रार्थ का कुछ संक्षिप्त वृत्तांत वर्णनीय है।

मार्च १८७७ की घटना है। इस मास में चांदपुर में एक वार्षिक उत्सव मनाया जाता है। इस वर्ष होने वाले मेले की एक विशेषता यह थी, कि वहाँ के एक प्रसिद्ध भू-स्वामी ने जिलाधीश की अनुमति से एक शास्त्रार्थ का प्रबंध किया हुआ था। इस शास्त्रार्थ में भाग

लेने के लिए हिन्दू, मुसलमानों और ईसाईयों के प्रसिद्ध नेता पधारे हुए थे। ईसाई मत के प्रसिद्ध प्रतिनिधियों में एक थे, श्री टी० जी० स्टाक जो एक बड़े भारी नैयायिक अथवा तार्किक माने जाते थे। इन के साथ नोबल, पार्कर, थामस आदि कई विद्वान भी थे। मुसलमानों का प्रतिनिधित्व करने वाले भी माननीय मौलवी थे। इन में एक तो थे, श्री मुहम्मद कासिम मुख्य आचार्य देवबंद ऐरेबिक संस्थान और दूसरे थे सैयद अबदुल मनसूर जिन्होंने तुरकी के बादशाह से उपाधि पाई हुई थी।

स्वामी जी भी अपने वेद-नाद को सुनाने के लिए ऐसे अवसरों को हाथ से नहीं जाने देते थे। शास्त्रार्थ के दिन थे १९, २०, २१ मार्च। स्वामी जी वहाँ १५ मार्च को ही पहुँच गए। जाते ही इन को हिन्दू धर्म के प्रतिनिधित्व करने के लिए निमंत्रण भी मिला। स्वामी जी ने भी प्रसन्नतापूर्वक मान लिया। परन्तु दूसरे दिन एक आश्चर्य जनक समस्या उपस्थित हो गई। कुछ हिन्दू और मुसलमान नेता आकर कहने लगे, कि इस वक्त भारत पर अंग्रेजी राज्य पूरे तोर पर स्थापित हो चुका है। वैसे तो यह धर्मनिरपेक्ष राज्य कहा जाता है, पर वास्तव में ईसाई मत का ही बोल बाला है। हमें डर है, कि पादरी लोग झूठ-मूठ हिन्दू मुस्लिम धर्म की त्रुटियाँ बता कर और कई प्रकार के प्रलोभन देकर लोगों को ईसाई मत में प्रवेश करा कर इस हिंदुस्तान को ईसाईवर्त्त बना देंगे। इस लिए ऐसी होने वाली अवस्था को रोकने के लिए आप हमारे दोनों धर्मों का नेतृत्व करें और अपनी तर्कयुक्त युक्तियों से इन पादरियों को नीचा दिखा कर भारत को इन के चंगुल से बचा लेवें। स्वामी जी ने ऐसी बात को तत्काल धोका और फरेब बता कर यह कहा, कि धर्म क्षेत्र में ऐसी नीति का कोई स्थान नहीं है। लौकिक व्यवहार में भी ऐसी युक्ति हानिकारक ही हुआ करती है। यह ऐसी नीति है, जिससे दो विरोधी दल अपने उभयशत्रु पर विजय पा कर फिर आपस में वैर विरोध से अपनी अन्त्येष्टि-क्रिया को प्राप्त हो जावें, हां, ऐसा क्यों न किया जावे, कि तीनों धर्मों के नेता परस्पर प्रेमपूर्वक मिल कर सोच विचार करें। सत्यासत्य का निर्णय कर धर्म

के सामान्य लक्षणों को अपना दिल-जान से एक हो जावें जिस से देश भी स्वतन्त्र हो सके और लोगों को भी सुख और शांति मिले। यह भी याद रखो, कि "जबतक इस मनुष्य जाति में परस्पर मिथ्या मतमतान्तर का विरुद्ध वाद न छूटेगा, तब तक अन्योन्य को आनन्द न होगा। यदि हम सब मनुष्य और विशेष कर विद्वज्जन ईर्ष्या द्वेष छोड़ सत्यासत्य का निर्णय कर के सत्य को ग्रहण और असत्य का त्याग करना कराना चाहें तो हमारे लिये यह बात असाध्य नहीं है। यह निश्चय है कि इन विद्वानों के विरोध ही ने सबको विरोध जाल में फंसा रक्खा है......" हिन्दू और मुसलमान दोनों स्वामी जी से ऐसा उपदेश सुन कर अपने-अपने प्रतिकूल-भावों के साथ वापस लौट गये। और शास्त्रार्थ ठीक निर्धारित समय पर (१६ मार्च १८७७) आरम्भ हो गया।

समय से कुछ पहले ही तीनों धर्मों के प्रतिनिधि अपनी-अपनी जगह पर बैठ गए। मेले के कारण लोगों की भीड़-भाड़ भी बड़ी थी। हिन्दू धर्म का नेतृत्व स्वामी जी ही कर रह थे। परन्तु शास्त्रार्थ होने से थोड़ा पहले मुसलमान प्रतिनिधियों ने एक आपत्ति खड़ी कर दी, और कहा, चूंकि पण्डित दयानन्द ने हिन्दू धर्म की परम्परा प्रथा रीतियों और सिद्धान्तों को तिलांजलि दे रखी है, और एक नया पंथ चलाया हुआ है, इसलिए वह हिन्दू धर्म के प्रतिनिधित्व के योग्य नहीं इन के स्थान पर कोई और प्रसिद्ध हिन्दू होना चाहिये। इसी सम्बन्ध में वहां बैठे दो व्यक्तियों के नाम भी लिए।

इसके उत्तर में स्वामी जी ने कहा कि जब से मैं चांदपुर आया हूँ, इस शास्त्रार्थ में विघ्न डालने के लिए प्रयत्न किये जा रहे हैं। पहले-पहल मुझे दोनों (हिन्दुओं और मुसलमानों) के नेतृत्व के लिए कहा गया। शास्त्रार्थ केवल सत्यासत्य के निर्णय के लिए ही हुआ करता है, और अगर ऐसा नहीं हो सकता तो यह सब व्यर्थ यत्न है। इसी कारण मैं आपकी ऐसी बात को न मान सका। अब जो आपत्ति सामने लाकर खड़ी कर दी है, यह तो केवल हिन्दुओं में परस्पर फूट डालने के लिए है। काल के प्रभाव से अगर हम में कुछ त्रुटियां आ

जावें और उनके सुधार के लिए कोई प्रयत्न किया जावे, या हिन्दू धर्म की सनातन परम्परा को वापस लाने की कोई कार्यवाही की जावे, तो इस में अन्य मत वालों को किसी प्रकार आक्षेप करना ठीक नहीं है। आर्य समाज का स्थापन करने में मेरा अभिप्राय कोई नये मत का चलाना नहीं। इस लिए आपका यह कहना कि मैं आर्य्य समाज का ही प्रतिनिधि हो सकता हूँ हिन्दू धर्म का नहीं, ठीक नहीं है। इस पर उन व्यक्तियों जिनके नाम मुस्लिम प्रतिनिधि ने प्रस्तुत किए थे। खड़े होकर स्पष्ट कह दिया, कि स्वामी जी हिन्दू धर्म के पूर्णतः माननीय प्रतिनिधि है। इस पर मुसलमान भाई चुप हो गये, और साधारण कारवावाई शुरू हो गई।

समिति ने सर्व सम्मति से स्वामी जी को विवाद विषय पर प्रारम्भिक प्रवचन के लिए कहा गया। वाद विषय था, कि ईश्वर ने सृष्टि को कैसे रचा, इस लिए स्वामी जी ने शास्त्रों के अनुसार ब्रह्माण्ड-विज्ञान पर बोलना आरम्भ किया। अभी कुछ थोड़ा सा ही कहा जबकि प्रश्न पूछा गया, कि सृष्टि को बने कितने वर्ष बीत चुके हैं; और कितने बाकी हैं? इस पर स्वामी जी ने बताया कि अब तक चौदह मन्वन्तरों से छः व्यतीत हो गए हैं, और सातवां शुरू है, जिस की इकहत्तर चतुर्युगियाँ में से सताइस गुजर गई हैं, और अठाईसवीं के तीन युग और आज तक कलियुग के ४९७६ वर्ष निकल चुके हैं। यह कुल मिलाकर १९६०८५२९७६ वर्ष होते हैं। वर्तमान सृष्टि की आयु के २३३३२२७०२४ वर्ष बाकी हैं। यह कुल वर्ष मिलाकर ठीक ९९९ या लगभग १००० चर्तुयुग होती हैं। इसको ब्राह्म दिन भी कहा जाता है। इतनी ही ब्राह्म रात्रि होती है, जो प्रलय का समय है जबकि सृष्टि अपने व्यक्त रूप में होकर ब्रह्म में लीन रहती है। ऐसे दिनों अर्थात् १२०० त्रैयुगों का दैव युग माना जाता है। "इसी प्रकार असंख्यात मत्वन्तरों में जिनकी संख्या नहीं हो सकती अनेक बार सृष्टि हो चुकी है और अनेक बार होगी। इसका न तो आदि है और न ही अन्त। सो इस सृष्टि को सदा से सर्वशक्तिमान जगदीश्वर स्वभाव से रचता, पालन और प्रलय करता है। और सदा ऐसे ही

करेगा" इस से स्पष्ट है कि ईश्वर न काल के बन्धन में है, न प्रकृति के गुणों से वह भ्रम में आता है। स्वामी जी के पश्चात दूसरे दिन बाकी दोनों मतों के एक-एक प्रतिनिधि बोले परन्तु जब भोजन करने की छुटी करके गए। तो फिर दोपहर के बाद श ·र्थ जारी रखने के लिए वापस नहीं लौटे और न ही स्वामी जी को अपने इरादों की खबर भेजी। स्वामी जी को कुछ इस से दुःख भी हुआ, कि बिना किसी निर्णय के यह शास्त्रार्थ भी समाप्त हो गया। इस सम्बन्ध में ऋषि का दुख स्वयं सिद्ध है। क्योंकि इनके पिछले तेरह वर्ष के कार्य-क्रम में ऐसी घटनायें दृष्टि गोचर हुई जिनसे यह जान पड़ता है, कि उनके हृदयाकाश में एक आकांक्षा उमड़ी रहती और सदा इसके इच्छुक रहते थे, कि किसी प्रकार भारत वासी सत्यासत्य का निर्णय करके सत्य को धारण करें और फिर भावनात्मक एकता के हो जाने पर स्वतन्त्रता से अपने देश में राज्य करते हुए सुख-पूर्वक जीवन व्यतीत करें। परन्तु वह इस बात के पूरे अनुयायी थे, कि बिना हार्दिक प्रेम के दूसरी किसी प्रकार की दिखाऊ एकता कभी भी सुख का कारण नहीं हो सकती। इसी लिए वह ऐसे अवसरों को जिनसे सत्यासत्यका निर्णय हो सके, अपने हाथ से नहीं छोड़ना चाहते थे। और जब इसमें कोई विघ्न पड़ जाता, तो उन्हें अफ़सोस भी होता। इस सम्बन्ध में दिल्ली दरबार की घटना वर्णनीय है।

**दिल्ली दरबार**—उपर्युक्त शास्त्रार्थ से कोई तीन मास पहले अर्थात् एक जनवरी १८७७ को दिल्ली दरबार हुआ था। इसमें इंग्लैंड की रानी विक्टोरिया को हिंदुस्तान की महारानी बनाने की घोषणा करनी थी। और देश के राज्य की बागडोर समूचे तौर से इंगलिस्तान की संसद् को सौंप देनी थी। पराया राज्य बहुत बुरा होता है, परन्तु एक राष्ट्र का किसी दूसरे राष्ट्र पर राज्य हो जाना पराजित जाति की दुर्दशा की चरमसीमा अथवा दुर्दैव की निशानी ही मानी जाती है।

स्वामी जी दिसम्बर १८७६ में अयोध्या थे, जहां पर कि वह ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका के लेख को पूर्ण कर रहे थे। यहीं पर ही इन्होंने इस उपरोक्त दिल्ली दरबार में होने वाली घटना को सुना। यह

जान कर कि इस दरबार में सम्मिलित होने वाले राजा, महाराजा और हर जाति के प्रसिद्ध नेता को अपनी दासताके प्रलेख पर हस्ताक्षर करने के लिए पदार्पण करने होंगे। स्वामी जी ने अपनी आकांक्षा की सफलता के लिए इस अवसर को अपने हाथ से खोना न चाहा, इसी लिए वह दरबार के निश्चित समय से कुछ दिन पहले ही वहाँ पहुँच गये। और कई एक राजों, महाराजों और दूसरे नेताओं से आ कर मिले। और अपने विचारों को उनके सामने रखा।

इससे पांच मास पहले स्वामो जी इन्दौर में। वहाँ पर इन्दौर के महाराजा होलकर की अध्यक्षता में पराजित बालकृष्ण से स्वामी जी का शास्त्रार्थ हुआ था। इस शास्त्रार्थ में स्वामी जी ने जो विद्वत्ता दिखाई, उससे प्रभावित होकर महाराजा होलकर इनके बड़े भक्त हो गये थे। अब इस समय में इसी महाराजा ने स्वामी जी के काम की सफलता के लिए इनका पर्याप्त हाथ बटाया। कई राजाओं से इनका परिचय कराया। इनके राष्ट्रीय विचारों और इनके विद्वत्त्व को उनके सामने रखा। इनके अतिरिक्त कन्हैयालाल, अलखधारी, सर सय्यद अहमद खान, नवीनचन्द्र राव, केशवचंद्र सेन, मुन्शी इन्द्रमणि, हरिश्चंद्र, चितामणी और पण्डित फूलचन्द आदि कुछ प्रसिद्ध नेताओं से मिले। इन सबके सामने स्वामी जी ने जो विचार रखे, वह देश को स्वतन्त्र कराने के लिए राष्ट्रीय एकीकरण के सम्बन्ध में ही थे। इसके लिए सबकी यही सलाह ठहरी, कि एक सम्मेलन की घोषणा की जावे, जिसमें कि स्वामी जी बताई हुई योजना पर सम्मिलित रूप से विचार किया जावे। ऐसा ही किया गया। स्वामी जी ने सूचना पत्र छपवा कर बांट दिए। सम्मेलन समय पर आरंभ हो गया, जिसमें उपर्युक्त नेताओं के अतिरिक्त और कई माननीय सज्जनों ने भाग लिया।

# ५

## लाहौर को

उपयु क्त दिल्ली और चांदपुर की दो घटनाओं से किसी सामान्य नेता के दिल का बैठ जाना कोई आश्चर्यजनक बात नहीं बहुत से साधारण सुधारक अपनी ओर लोगों की उपेक्षा देख कर निवृत्ति जीवन को अपना लेते हैं। कार्यक्षेत्र से भागकर विरक्ति में ही अपने सुख को ढूंढ़ने लग जाते हैं। परन्तु वह वास्तविक प्रवर्तक या नेता जिन्होंने इस ब्रह्मांड को देख कर 'नेति' के अर्थ को समझ लिया हो, संसार में दुःखों को देख कर अपने सुख को छोड़ दिया हो और हर जीव के सुख और मनुष्य मात्र की उन्नति के लिए कमर कस ली हो, कैसे विरक्त हो सकते हैं। सृष्टि में परमाणु से लेकर सूर्य मण्डल ही नहीं, इस खगोल के हर स्थान में गतिविधि को देख कर ऐसे महापुरुष प्रवृत्ति के मार्ग से कैसे दूर भाग सकते हैं? जीवन सक्रिय है। इसके कार्यकलाप को नियम-बद्ध तो ज़रूर करना होता है, परन्तु इससे निवृत्त नहीं हो सकती। अगर कोई कार्य के लिए उपयोगी है, और इसकी उन्नति के लिए है, तो इसमें सफलता का होना जरूरी है। अगर कोई त्रुटि हो सकती है, तो इसमें मेरी ही हो सकती है। ईश्वर—प्रणिधान के क्या अर्थ हैं? क्या मैंने कर्म के फल को देखना है, या सत्य का पालन करना है? क्या यह कार्य वेदोक्त नहीं है? अगर है, तो सोच क्या? ऐसा सोच कर ऋषि दयानन्द अपनें कार्य को बढ़ाने के लिए लाहौर की ओर चल पड़े।

स्वामी जी जब दिल्ली के एकता-सम्मेलन में भाषण दे रहे थे, तो लाहौर के कुछ सज्जन पुरुष जो वहाँ बैठे थे, उनके व्याख्यानों से प्रभावित होकर उन्हें लाहौर में पधारने के लिए निमन्त्रण दिया था और जब वह चांदपुर थे, तो इनको याद दिलाने के लिए एक निमन्त्रण-पत्र

भी भेजा। स्वामी जी यहाँ से रवाना होकर मुंशी कन्हैयालाल अलखधारी के पास लुधियाना में एक दिन रहकर १९ अप्रैल, १८७७ को लाहौर पहुँच गये। रेल के स्टेशन पर इनके स्वागत के लिए लाला जीवनदास पण्डित मनफूल और बाबू नवीनचन्द्र राव उपस्थित थे। शहर में इनके रहने के लिए इंतजाम दीवान रतन चन्द के स्थान पर किया गया। इस वक्त लाहौर में जो इनके प्रशंसक थे, वह ब्रह्म समाजी थे। इसलिए इनके पहले दो उपदेश वेदों पर ब्राह्म-समाज में ही हुए।

इन दो उपदेशों का अवलोकन एक स्थानीय समाचार-पत्र 'कोहेनूर' के अप्रैल, २८ संवत् १८७७ में इस प्रकार है—स्वामी जी ने भाषण के आरम्भ में वेद, श्रुति मंत्र आदि के अर्थों को बड़ी स्पष्टता से समझाया। और यह भी बताया, कि वेद शाश्वत अथवा चिरन्तन हैं। यह कभी बनाए नहीं गए। हाँ, हर सृष्टि के प्रारम्भ में चार ऋषियों द्वारा इनका प्रादुर्भाव होता है। अग्नि, वायु, आदित्य अङ्गिरा नामक ऋषियों से ब्रह्मा ऋग, यजु, साम और अथर्व वेद को ग्रहण करता है। और फिर उन से इन वेदों का प्रकाश सारे संसार में हो जाता है। इससे स्पष्ट है, कि सृष्टि की आदि में केवल एक मत था। और वह था केवल वेद मत या वह मत जो ईश्वर के ज्ञान पर आधारित है। इनकी ११२७ शाखें सब सत्य विद्या के मूल मंत्र हैं।

इसी प्रकार बिरादरे-हिन्द के सम्पादक पण्डित शिव नरायन अग्निहोत्री जून, १८७७ क पत्र में लिखते हैं, कि स्वामी जी क कई एक व्याख्यान सुन कर मैं इस परिणाम पर पहुँचा हूँ, कि स्वामी जी के विचार आजकल के अंग्रेजी लिखे-पढ़े व्यक्तियों के विचारों की अपेक्षा उच्चतर हैं। उनके उपदेशों से यह भी जान पड़ता है, कि वह एक बड़े देश हितैषी और देश-भक्त हैं। और राष्ट्रीय सुधार के लिए इनसे बढ़ कर कोई अधिवक्ता नहीं हो सकता। उनके प्रवचनों से यह भी स्पष्ट जान पड़ता है, कि वह अपने देशवासियों के हृदयों में स्थित अज्ञानता से उत्पन्न हुए प्रतिकूल प्रभावों का नाश चाहते हैं। और यह भी चाहते हैं कि सब लोग विद्वान होकर एकता के पाठ को पढ़ें, जिससे देश एक

राष्ट्र हो जावे, और संसार में पहले की तरह फिर से यह एक आदर्श और महान् राष्ट्र बन जावे ।

स्वामी जी का एक उपदेश 'वेद और वेदोक्त धर्म' पर बावली साहिब के स्थान पर हुआ। इससे लाहौर नगर के पौराणिक हिन्दुओं में काफी हलचल मच गई । रातों रात पण्डित-समाज तन कर खड़ी हो गई । भिन्न-भिन्न संप्रदायों में बिखरे हुए हिन्दू एक दम एक प्लेट-फार्म पर जमा हो गये । क्यों ? व्याख्यान की प्रतिक्रिया के कारण । इससे जान पड़ता है कि इस प्रतिक्रिया की क्रिया कितनी जबरदस्त होगी अर्थात स्वामी जी का यह उपदेश कितना शक्तिशाली होगा, क्योंकि क्रिया और प्रतिक्रिया सदा उलटी दिशाओं में चलती हुई भी बराबर ही हुआ करती हैं। पण्डित समाज ने स्वामी जी के व्याख्यान से लोगों के दिलों पर पड़े हुए प्रभाव को मिटाने की पूर्ण-तया ठान ली । और ऋषि के प्रवचनों का मुंह तोड़ जबाव देने के लिए उसी स्थान पर पण्डित श्रद्धाराम को खड़ा कर दिया । समझा कि हमने मैदान जीत लिया है। दिल को हौसला दिया कि हम खतरे से बाहर हो गए । हिन्दू जाति को एक संन्यासी के चंगुल से बचा लिया है । अपनी युक्तियों से जनता को एक ईसाई मत के अभिनेता से खबरदार कर दिया है। परन्तु जो कुछ वह सोच रहे थे, क्या वह ठीक था ? इसको हम जानना चाहें, तो कैसे जान सकते हैं । यह घटना तो कोई सत्तासी (८७) वर्ष पुरानी है ।

रात भर पुराणी पण्डित मण्डली जो अपनी जीत का गीत ऊंचे स्वर से गा रही थी, शहर में पधारे हुए नए संन्यासी की ओर से अपने आप सुरिक्षत समझने लग गई थी, हरगिज नहीं । मन कह रहा था, कि इस संन्यासी के शहर में रहने से हम सुरिक्षत नहीं हैं । इसके सामने हमारी दाल नहीं गल सकती । अगर हमारे बचाव का रास्ता कोई हो सकता है, तो इसको शहर से निकालने से ही हो सकता है । ऐसे सोच कर नगर के कुछ पण्डित दीवान रत्न चन्द के पुत्र भगवानदास के पास पहुँचे, और इस संन्यासी को जो हिन्दू धर्म की परम्परा को तोड़ने वाला और ईसाइयों का कार्यवाहक समझा

गया अपने पिता के स्थान से निकालने के लिए कहा। भगवान दास भी इन पण्डितों की रक्षा के लिए तैयार हो गया, और स्वामी जी को स्थान छोड़ने के लिए आदेश दिया। स्वामी जी के उसके ऐसे अधिकार को न मानने पर वही लोग दीवान रत्न चन्द के पास गए। दीवान ने जब खुद आप आकर कहा, तो स्वामी जी ने तत्काल उसके स्थान को त्याग दिया। इस वक्त इनके पास ठहरने के लिए किसी का निमन्त्रण था, तो केवल एक मुसलमान डाक्टर रहीमखान का। स्वामी जी के सामने इस वक्त प्रश्न था, कि क्या वहां जाया जावे? क्या इस से मेरे काम में कोई बाधा तो नहीं पड़ जाएगी? कोई ऐसा बहाना तो इन पण्डितों के हाथ नहीं लग जाएगा, जिससे कि मेरे उद्देश्य को उलटा बता कर आम जनता के दिलों में मेरी ओर से संदेह उत्पन्न कर दें, और मेरे प्रचार में अड़चन खड़ी कर देवें? हिन्दू जाति रोग-ग्रस्त तो है ही। इस को ठीक किये बिना तो देश का सुधार हो नहीं सकता। फिर किया जावे तो क्या किया जावे? परन्तु मेरा उद्देश्य तो देश की स्वतन्त्रता है। देश में मुसलमान ईसाई आदि भी तो हैं। इन सबके एकीकरण के बिना स्वतन्त्रता कैसे हो सकती है और यह भी बात है, कि जब तक देश के भिन्न-भिन्न मतों के अन्दर अज्ञानता, भूल और भ्रम है, मनों के अन्दर प्रतिकूल प्रभाव हैं, भावनात्मक एकता हो नहीं सकती और बिना इस के काम चल नहीं सकता। इस के लिए मेरे सिर पर तो देश के हर व्यक्ति का बोझ है। मैंने तो हर एक का सुधार करना है। हर एक को भ्रम जाल से निकालना है। अगर यह बात है, तो फिर मुझे डाक्टर रहीम खान के निमन्त्रण के मानने में क्या आपत्ति हो सकती है। यह सोच कर ऋषि ने डाक्टर रहीमखान के स्थान पर अपना डेरा कर लिया। इस घटना से कुछ भ्रम-पाश में फंसे हुए पौराणिक पण्डितों की उमंगें उभर पड़ीं। यह संन्यासी अब हिन्दू जाति का सुधारक नहीं हो सकता। इस का ऐसे स्थान पर शरण लेने से यह स्पष्ट हो गया है, कि वह पादरियों का एक वैतनिक अधिवक्ता है। इस वक्त इन के कुछ अनुयायी थे, जो वह सदस्य थे ब्रह्म-समाज के। और यहां रहते हुए इन के

खर्च का कुछ बोझ था, तो वह ब्रह्म-समाज पर ही ।

परन्तु यह प्रबंध बहुत दिन तक न निभ सका। कारण यह कि स्वामी जी के स्थान के बदलने के बाद इन के व्याख्यानों का प्रबन्ध ब्रह्म-समाज में ही हुआ । इन के दो भाषणों ने, जो एक वेदान्त पर और दूसरा पुनर्जन्म पर एक दूसरे के बाद हुये, समाज के बहुत से सदस्यों को स्वामी जी के खिलाफ कर दिया । इन दोनों विषयों पर ब्रह्म-समाज के विचार वैदिक सिद्धांतों के प्रतिकूल होने के कारण इन के सामने जो प्रश्न उपस्थित हो गया, वह यह था, कि ऐसी स्थिति में हमें या तो ब्राह्म-समाज को छोड़ना चाहिये या स्वामी जी से अपना संबंध तोड़ लेना चाहिये । इन्होंने पिछली बात को ही ठीक समझा और स्वामी जी को किसी प्रकार की सहायता करना बन्द कर दिया परन्तु कुछ सदस्य ऐसे भी थे, जो यह चाहते थे कि स्वामी जी के उन विचारों की, जो ब्राह्म-समाज के विचारों से टक्कर खाते है, खोज की जावे, और फिर सत्यासत्य का निर्णय कर सत्य के अनुकूल कार्यवाही की जावे । परन्तु ऐसा सोचने वालों की संख्या थोड़ी होने के कारण इन को समाज से अलग होना पड़ा, और इन्होंने ही ब्रह्म-समाज से अलग हो कर आर्यसमाज की स्थापना की ।

उपर्युक्त घटना के अध्ययन से एक आश्चर्य-सा होता है, कि उस हिन्दू जाति ने जो वेदों को सनातन ईश्वरीय ज्ञान मानती थी, जो अपने रस्म-रिवाज को वेदों से संबंधित करती थी, एक संन्यासी को जो सनातन वेदोक्त प्रथा को फिर से प्रतिष्ठित करना चाहता था, ठहरने के लिये कोई स्थान न दिया था, अगर किसी ने दिया, तो एक प्रसिद्ध मुसलमान डाक्टर ने, जो वेदों को अपना पथ-प्रदर्शक नहीं समझता था । इसी प्रकार इन को प्रचार के लिए कोई जगह मिली, तो ब्रह्म-समाज मन्दिर में, जिस के सदस्य वेदों को कोई विशेष दरजा नहीं देते थे । ऐसा क्यों हुआ ? यह एक विवेचनीय बात जरूर है। और सोचने से इस का कुछ भेद भी खुल सकता है ।

यह ठीक है, कि वेद ईश्वरीय ज्ञान हैं, और इन में एक ही ईश्वर का व्याख्यान है, जिस ईश्वर के कई एक गुण हैं। इस लिये इस के

असंख्य नाम हैं। वैदिक जमाने में वेदभक्त उस एक का ऐसे कई नामों से प्रभु का ही ध्यान करते थे। परन्तु समय के प्रभाव से विद्या के न होने से वेदज्ञों की समाप्ति हो जाने पर वेद निन्दक पंथ उत्पन्न हो गए। और इस देश में कई मत मतांतरों की भीड़ हो जाने पर आर्य धर्म का हिन्दू मत में परिवर्तन हो गया। देश की स्थिति एक ईश्वर-वादी पंथ से हट कर बहुदेववादी पंथ में बदल गई। सारे संसार में भिन्न-भिन्न देवी देवताओं की पूजा शुरू हो गई। न केवल भारत में बल्कि सारे संसार भर में ऐसी स्थिति आज से ५००० वर्ष पहले से लेकर कोई २००० वर्ष पहले तक बनी रही। यह तीन सहस्र वर्ष मनुष्य जाति के पतनका समय है। हर देश के लोगों में इष्ट-देवता की आराधना में अपनी अपनी सिद्धि के लिये पशुबलि और कहीं कहीं नरबलि भी चढ़ाने लगे। स्वार्थ ने एकता के तार को तोड़ दिया। और फिर वेदवाद और साथ ही इस के मानववाद के अन्त हो जाने पर मनुष्य जाति में आसुरी माया फैल गई। ऐसे आचार व्यवहार से हीन हुई मनुष्य जाति में कहीं कहीं सुधार भी शुरू हो गया। मध्य एशिया में पहले ईसाइमत और फिर इस्लाम मत का उद्‌भव हुआ। इन मतों के प्रवर्तकों ने मनुष्य जाति की गिरावट का मूल कारण मनुष्यों में एक सर्वव्यापक सर्व शक्तिमान परमात्मा का अभाव ही समझा। इसलिए इन्होंने जाति के परिवर्तन की प्रक्रिया में प्रथम कार्य एक परमात्मा में पूर्ण श्रद्धा का उत्पन्न करना समझा। इस से इन मतों के अनुयायियों में परस्पर एकता के हो जाने पर जीवन फिर से आरम्भ होने लगा। आपस में मानवता का व्यवहार भी करने लगे। ईश्वर-पारायण होने से सम्मिलित शक्ति का उभार भी उमड़ पड़ा।

भारत में मनुष्य जाति के रोग का कारण 'आस्तिकता' समझा गया। यहाँ पर "वेद" एक ईश्वरीय ज्ञान ही माना जाता था इस लिए यहाँ के रस्म रिवाज, आदमियों का आचार व्यवहार भी वेदोक्त गिना जाता था। परन्तु इस वक्त भारत में न वेदज्ञ थे और न वेद। कई प्रकार के देवी देवता ही ईश्वर का स्थान लिए बैठे थे। वास्तव

में यह आस्तिकता नहीं थी, घोर नास्तिकता थी। फिर भी लोग आस्तिक माने जाते थे। इस लिए यहां पर जो सुधार की रौ चली वह नास्तिकता की ओर उमड़ी। और कई नास्तिक सम्प्रदाय उत्पन्न हो गए, जिन में चारवाक बौद्ध और जैन प्रसिद्ध हैं। इनके प्रभाव से आस्तिक कहलाने वालों में भी एक ईश्वर की पूजा का भाव मिट गया। शंकराचार्य ने जब फिर वेद मत का पुनः प्रचलन किया, तो समय के प्रभाव से उत्पन्न हुई मूर्त्तिपूजा के प्रचलन को जारी रखा, जिस से साधारण लोग और स्वार्थी विद्वान एक ईश्वरवादी न बन सके।

जब मुसलमानों का आक्रमण भारत पर हुआ, तो यहां के रहने वालों को बुत-परस्त देख कर इन से घृणा करने लगे। परन्तु अंग्रेजी राज्य में दोनों के लिए पराया शासन होने के कारण साथ-साथ रहना पड़ा।

ऐसी अवस्था में जब ऋषि ने एक परमात्मा को ही मानना जानना और उस एक ही की उपासना करने का वेद-नाद बजाया, तो हिन्दू विद्वान कुछ घबड़ा से गये। अपने प्रचलित रिवाज को घृणोत्पादक तो समझते ही थे, परन्तु गलती से वेदोक्त समझे जाने के कारण इस को छोड़ना भी नहीं चाहते थे। स्वामी जी के व्याख्यानों ने इन के चित्त के अन्दर छिपी हुई भावना को उभार दिया, जिस से सुधार की बजाय हीन मनोभाव उमड़ पड़े, और इसी कारण इन्होंने स्वामी जी के विरोध में ही अपनी तुष्टि देखी। क्योंकि कहा भी है, कि—

लघुमन्यता कई दोषों का कारण हो जाया करती है, दूसरी ओर मुसलमान एक ईश्वरवादी जमात है। हिन्दुओं की बुत परस्ती से नफ़रत करती है। स्वामी जी के ईश्वरीय विचार अपने मतानुकूल पा कर और इस में अपने धर्म का समर्थन देख कर एक मुसलमान के मन की स्थिति का अनुमान लगाना कोई कठिन समस्या नहीं।

अब आप समझ गये होंगे, कि डाक्टर रहीम खान ने स्वामी जी को क्यों निमन्त्रण दिया, या ब्रह्म-समाज ने पहले क्यों सहायता की और फिर अपना हाथ क्यों खींच लिया? वास्तव में धर्म गाम्भीर्य को

साधारण लोगों का समझना कठिन है, और अगर कुछ समझते हैं, तो इन की संख्या बहुत कम है। जब कोई विद्वान इन के माने हुए सिद्धांतों का समर्थन करता है, तो खुशी से अपने जामे में नहीं समाते, परन्तु प्रतिकूल भावनाओं को सहन भी नहीं कर सकते। इस लिये उपर्युक्त घटना का सुलझाव अगर किसी तरह हो सकता है तो इसी नियम के समझने से ही हो सकता है।

स्वामी जी के यहाँ एक मुसलमान के स्थान पर रहते हुए भी इन के उपदेशों में भीड़-भाड़ तो होती ही थी, कुछ लोग अपनी धार्मिक तथा पारिवारिक समस्याओं के सुलझाव के लिए भी आते रहते थे। स्वामी जी ऐसी सब मुश्किलों का हल जो अक्सर बताया करते थे, वह था केवल वेद-मार्ग। वेद-मार्ग पर चलो, एक ईश्वर को मानो और उसी की उपासना करो।

स्वामी जी के उपदेशों और निजी सत्संग में भी सब मतों के अनु-यायी सम्मिलित होते थे। एक दिन की घटना है, कि स्वामी जी जब लोगों को उन की निजी कठिनाइयों का उपाय वेद-पथ का अपनाना ही सिद्ध कर रहे थे, तो वहाँ बैठे एक पादरी झट बोल उठे, कि बाबा जी आप क्या कह रहे हो? क्या आप लोगों को पीछे उस स्थिति की ओर धकेलना चाहते हो, या उस काल को वापस लाना चाहते हो, जब लोग क़ुदरती बनी हुई गुफाओं में रहते थे, भेड़ों और बकरियों को चराते हुए जगह-जगह घूमते हुए और गीत गाते हुए अपना जीवन व्यतीत करते थे। यही गड़रियों के गीत ही तो वेद-मंत्र हो सकते हैं। उन गीतों में बेशक कुछ न कुछ सचाई हो सकती है, समय की खोज के कुछ आविष्कार भी माने जा सकते हैं। परन्तु उस काल से अब हम बहुत दूर निकल आए हैं। अब बाइबिल का ज़माना है। देखो, जहां पर बाइबिल गई, लोगों में जागृति होती गई। इसी कारण अब यह ईसाई मत इतना प्रसिद्ध है, कि इस के राज्य में सूर्य अस्त ही नहीं होता। इस लिए आप को अब उस जंगली काल का उपदेश नहीं करना चाहिये। समय को देखो और सीधे रास्ते पर चलो और चलाओ। इस पर स्वामी जी ने उत्तर दिया, कि आप का यह कहना कि ईसाई

मत बहुत स्थानों पर फ़ैला हुआ है ? ठीक है, क्योंकि यह स्पष्ट देखा जा रहा है, परन्तु बाइबिल के कारण नहीं, बल्कि वेद-मार्ग पर चलने से । ईश्वरीय ज्ञान सृष्टि के आरम्भ में ही मनुष्यों को प्राप्त हुआ था, जो किसी समय सारे संसार में फैला हुआ था । सब लोग आर्य कह-लाते थे, और वेद मत पर चलते थे । जिस की कुन्जी भारत के ऋषियों के हाथ में थी । इसी के ज्ञान के कारण मनुष्यों के लिए जब खाने-पीने की सामग्री पर्याप्त मात्रा में इकट्ठी हो गई, तो लोग ऐश व आराम में पड़ कर सुख विलास भोगने लगे । अपने वैदिक कर्त्तव्यों को भूल गए, समय बदल गया और जातियों का पतन होना शुरू हो गया । ऐसी अवस्था में कई महापुरुषों ने पुराने भूले हुए सिद्धान्तों के अन्दर सच्चाई देखी । इन के अन्दर उन्नति के बीज नजर आए । इस लिए इन का प्रचार किया । लोगों को इन में प्रवृत्त करने के लिए हर प्रकार के दु:ख सहन किये । आखिर लोगों ने भी इन में अपनी कठिनाइयों का हल देख कर अपना लिया । फिर राज्य-धर्म होकर ऐसे मत कई देशों में फैल गए । देखिए आप के मत में जो उन्नति की बातें हैं, अर्थात् हर व्यक्ति का विद्यायुक्त होना, बाल-विवाह का न होना, बाल-विधवा विवाह का होना, और व्यापार में सेवा-भाव और श्रम-शीलता का होना; यह सब वेदोक्त हैं । आप के मत में इन का उद्-भावन नहीं, हाँ, वर्णन जरूर है । इसी कारण आपकी उन्नति है, बाइबिल के कारण नहीं । कोई वेद को माने न माने, परन्तु जो उस के आदेश के अनुसार अपना कार्य करता है, वह उसके उत्तम फल को भोगता है । दूसरी ओर वेद को मान कर भी जो उलटे मार्ग की शरण लेता है, उसका गिरना अवश्यम्भावी है । आप लोगों ने वेद को न मान कर भी वेद-मार्ग को अपनाया, जिस से आप का मत सर्वप्रिय हो गया । हमने वेद को ईश्वरीय ज्ञान मान कर भी न अपनाया, जिस के कारण हमारी दशा ऐसी हो गई, जो आपके समक्ष है । इस लिए यह स्वयं सिद्ध बात है, कि वेदों के ज्ञान बिना किसी प्रकार की उन्नति का होना असम्भव है । यह सुन वह पादरी अपनी धर्मपत्नी सहित चले गये ।

ऐसे ही किसी और दिन डाक्टर रहीमखान की कोठी पर हो रही समिति में उपस्थित एक प्रसिद्ध ईसाई मत के प्रचारक 'डाक्टर हूपर' ने संगति की ओर पूछा कि वेदों में वर्ण व्यवस्था के क्या अर्थ हैं, और क्या मैं जो एक ईसाई मत का अनुयायी हूँ, ब्राह्मण बन सकता हूँ ? स्वामी जी ने उसे बतलाया, कि वेदों में वर्ण विभाग सहज अथवा स्वजनित है। हर देश और जाति के अन्दर मनुष्य जाति चाति चार ही वर्णों में विभाजित पाई जाती है। हर देश में विद्वान पठन-पाठन का काम करने वाले ब्राह्मण, देश की रक्षा करने वाले क्षत्रिय, व्यापार में कुशल वैश्य और वैतनिक होकर सेवा करने वाले शूद्र पाए जाते हैं। इस लिए वेदों में मनुष्य जाति का विभाग इन चार वर्णों में प्राकृतिक है, कर्म से सम्बन्धित होने के कारण जन्म से दूर है। इस लिए **अगर आप ब्राह्मण का कर्म करते हैं, तो आप के ब्राह्मण बनने का प्रश्न ही नहीं उठता, आप ब्राह्मण ही हैं।**

६

# आर्य-समाज की स्थापना का आधार

बहुधा यह पूछा जाता है, कि अगर स्वामी जी का अभिप्राय कोई नये मतके चलाने का नहीं था तो आर्य-समाज क्यों बनाए गये, या स्वामी जी ने इन की स्थापना के लिए क्यों आदेश दिया? क्या इस से एक और सम्प्रदाय की शिलान्यास की रस्म तो पूरी नहीं की गई ? ऐसा भ्रम कोई आश्चर्यजनक नहीं, अपितु स्वाभाविक है, और उस समय की घटनाओं से पता चलता है, कि ऐसा विचार उस दूरदर्शी ऋषि के भी हृद्य-गत हुआ, और फिर इसे गम्भीरता पूर्वक सोच कर ही इस की स्थापना करना आवश्यक ही समझा।

प्रथम समाज की संस्थापना १० अप्रैल, १८७५ को बम्बई में हुई। इस वक्त इन को गुरु गृह को छोड़े कोई ११ वर्ष बीत चुके थे। और इस लंबे काल में ऋषि ने अपनी गुरु-दक्षिणा के चुकाने में रात-दिन एक कर रखा था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए व्याख्यान, उपदेश, कथा, वार्ता-लाप वैदिक पाठशालाओं की संस्थापना आदि जैसे कई उपकरण प्रयोग में लाए। कई सम्प्रदायों के प्लेटफार्म से उन्हीं की त्रुटियों को उन के समक्ष रखते हुए भावनात्मक एकता का प्रचार किया। प्रत्येक को यज्ञोपवीत देकर अर्थ सहित गायत्री मंत्र की उपयोगिता बताई। लोग भी बड़ा आदर करते, चरणों को छूते और दर्शनों के लिए भीड़ बना देते।

अक्तूबर, १८७४ को जब आप बम्बई पहुँचे तो इन के स्वागत के लिए आए हुए लोगों की कोई गिनती न थी। महादेव बालकेश्वर पर इन के ठहरने के स्थान को खूब सजाया और खाने-पीने का प्रबन्ध राजाओं के समान किया गया।

इस समय बम्बई में बल्लभाचार्य मत का जो वैष्णव संप्रदाय की एक शाखा है, बड़ा जोर था। उपर्युक्त गौरव-शाली स्वागत के अतिथि-धर्मियों में अधिकतर इसी मत के अनुयायी थे।

स्वामी जी ने यहां पर कई उपदेश किये। और कई बार इन बल्भाचार्यों की उन्नति के लिए इनकी त्रुटियों को भी इनके समक्ष रखा। इससे स्वामी जी का अभिप्राय कोई था, तो केवल यही कि, वह लोग अपनी भूल चूक को जान कर और ठीक मार्ग पर चल कर उत्कृष्ट हो जावें। परन्तु इसका परिणाम उलटा हुआ, अर्थात यह सब के सब स्वामी जी के द्वेषी हो गये। क्या यह सत्य नहीं है, कि कोई साधारण व्यक्ति न अपने दोषों को देखना चाहता है, और न ही सुन सकता है। मनोविज्ञान के विशेषज्ञ जानते हैं, कि पूर्व-धारणान्वित मन की भी एक स्थिति होती है, जिससे यह (मन) अपने प्रतिकूल प्रभावों को केवल स्थान ही नहीं देता, अपितु इनके विरोध में अपने अन्दर एक बवंडर सा उत्पन्न कर लेता है, जिससे यह सत्यासत्य का कोई निर्णय भी नहीं कर पाता।

महर्षि ने ऐसे ही तर्क से सोचा, कि अगर आम लोगों के मन की स्थिति ऐसी ही हुआ करती है, तो मेरा महा-व्रत कैसे पूर्ण हो सकता है? अभी कुछ दिनों की बात है, कि जब मैं अहमदाबाद में था, वहां पर मेरे प्रार्थना समाज में किए हुए उपदेशों की बड़ी प्रशंसा हुई। लोगों ने इस समाज की उत्कृष्टता के लिए मुझे इनके कार्यकलाप में भाग लेने के लिए भी कहा। मैंने भी मान लिया परन्तु एक शर्त पर, और वह यह कि इसका नाम आर्य-समाज अर्थात सांस्कृतिक शुद्ध आचरण-गत परंपरा वाले लोगों का समाज रखा जावे। आम लोगों ने तो इसे स्वीकार कर लिया, परन्तु इसके संबंध में जब एक पत्र इस समाज के संचालक राव बहादुर भोला नाथ साराभाई को उनकी स्वीकृति के लिए लिखा गया, तो उसका उत्तर 'नहीं' में ही मिला। ठीक है, अक्सर लोग 'नाम' के लिए तो कुछ कर सकते हैं, कर्त्तव्य के पालन करने के लिए नहीं। परन्तु जब तक कर्त्तव्य पालन करने वाले लोग नहीं होते, देश का उद्धार भी नहीं हो सकता।

स्वार्थ मनुष्य के जीवन का एक प्राकृतिक अंग है। हर प्रकार के पशु पक्षियों में यह एक समान है। हां, मनुष्य अपने असांस्कृतिक आचारों की संस्कृति कर सकता है। उत्तम संस्कारों द्वारा इनका संशोधन करके मनुष्यता के ऊंचे स्तर तक पहुँच सकता है। अगर ऐसा नहीं करता, तो इसकी बड़ी शोचनीय अवस्था हुआ करती है। धन का लालच, विद्या का दर्पमान-प्रतिष्ठा की भूख किसी मनुष्य के पतन का कारण बन सकते हैं। अगर ऐसे रोग, किसी नए स्थपित होने वाले समाज के सदस्यों में भी आ गए, तो बजाए लाभ के हानि की संभावना हो सकती है। हर व्यक्ति के चित्त में बसा हुआ सब कामों का प्रेरक मन प्रकृति का अंश ही तो है। इसलिए स्वभावतः प्रकृति की ओर बल पूर्वक गिरता है। संस्कृति से दूर भागता है। इसकी उत्कृष्टता के लिए बल की जरूरत हुआ करती है। इसी का नाम आत्मबल है। यही मनुष्यों को गिरने से रोकता है, इसको मानवता के ऊपरी स्तर पर ले जा सकता है। परन्तु इस आत्म बल का स्रोत कहाँ है ? देह की आत्मा की आत्मा में, जिसको परमात्मा कहते हैं। इसलिए ऐसे परमात्मा को समझे बिना मनुष्य मात्र का कल्याण असम्भव है। इसलिए ऐसे समाज की संस्थापना जिसने सब संसार को एक करना हो, या जिसने सबको एक ही प्लेटफार्म पर लाना हो, सर्वान्तर्यामी परमात्मा के माने बिना कैसे की जा सकती है ? ऐसे सोच विचार के पश्चात ही ऋषि ने उपर्युक्त तिथि अर्थात १० अप्रैल १८७५ को बम्बई में आर्य समाज की नींव डाली। इस वक्त इस नई समाज के सदस्य केवल २३ थे। और फिर एक समिति बनाकर इसके नियम बनाये गये, जो संख्या में अट्ठाईस थे। इन नियमों के अध्ययन से जान पड़ता है, कि इस समाज की संस्थापना से आशा की गई होगी कि इसके सदस्य वैदिक संस्कारों द्वारा अपने जीवन का विकास करते हुए मानव ऊंचे स्तर पर पहुँचकर देवता रूप हो जावें और इन नियमों के अनुसार प्रधान तो एक ऐसा प्रसिद्ध व्यक्ति होना ही चाहिये।

लाहौर में स्वामी जी के कार्यकलाप का पहले वर्णन किया जा

चुका है। और जैसे बताया गया है, यहां पर समाज के शिलान्यास का अनुष्ठान जून १८७७ में हुआ था। इस समाज के जो नियम बनाए गए वह केवल दस ही हैं, और वे इस समय प्रत्येक आर्य-समाज के नियम माने जाते हैं। अगर प्रतिकूल भावनाओं को मन से निकाल कर इन नियमों का अध्ययन किया जावे, तो आपको स्पष्ट जान पड़ेगा कि यह किसी मानव समाज अथवा मानव संस्था के नियम माने जा सकते हैं। वास्तव में इनका अभिप्राय भी यही था, कि यह प्रत्येक को प्रिय हों और सर्व मान्य हों, जिससे सब देश वासियों में वास्तविक एकता हो जावे। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है, कि इस समाज की स्थापना से स्वामी जी की एक इच्छा यह भी थी, कि इस समाज को संप्रदायों की सीमा से बहुत ऊपर रखा जावे, जिससे कि मतमतान्तरों के परस्पर संकुचित व्यवहार खत्म हो जावें और देश की उन्नति के मार्ग में यह अटका हुआ रोड़ा दूर हो जावे।

इस समाज का छटा नियम है—'संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है,' और फिर नौवें में बताया गया है, कि प्रत्येक को अपनी उन्नति में संतुष्ट नहीं रहना चाहिये, किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिये।

क्या आपने ऐसे स्पष्ट शब्दों में ऐसे विचार किसी समाज के अन्दर देखे हैं? क्या इनसे संप्रदायों के तंग दायरे टूट फूट नहीं जाते? और क्या यह दोनों नियम स्वामी जी के विशाल भावों को इस प्रकार मूर्तिमान नहीं कर रहे, जिससे कि उनके अन्दर छिपी हुई आकांक्षा को समझने में कोई गलती कर सके?

परन्तु संसार में देखा जाता है कि इन दोनों उच्च भावोंका संतुलन भावसे व्यवहार नहीं हो तो, कभी लोग व्यष्टि के आपेक्षित होकर इसी में संलग्न हो जाते हैं और कभी समष्टि की ओर निरंतर चल पड़ते हैं। राष्ट्रतंत्र में भी कभी व्यक्तिगत उत्थान के लिए राजतंत्र की सहायता ली जाती है या अधिनायकवाद को देश में जारी किया जाता है। और फिर कुछ समय के पश्चात् जब व्यक्तिरूप इतना उभर आता है, कि समाज की व्यवस्था शोचनीय हो जाती है, तो ध्यान जाता है,

लोकतंत्र प्रजातंत्र समाजवाद या साम्यवाद की ओर। जब इस तरफ झुकाव इतना हो जाता, कि व्यक्तियों की तुलना एक मट्टी के ढेले से की जा सकती हो, तो समष्टि के अंग टूट जाने से समष्टि की भी अंत्येष्टि हो जाती है, और फिर नया दौर राज्य तंत्र से चल पड़ता है।

स्वामी जी ने ऐसी दुःख भरी घटनाओं पर विचार किया। सोचा कि जब तक वैदिक सिद्धांत के अनुसार व्यष्टि और समष्टि का साथ साथ उत्थान नहीं होता, संसार में शांति का बना रहना असम्भव है। वैदिक काल एक बड़े लम्बे समय का न.म है। अगर इसी चतुर्युगी के सत और त्रेता युगों को ही वैदिक काल मान लिया जावे, तो भी इस की अवधि कोई तीस लाख वर्ष हो सकती है। इतिहास साक्षी है कि इस इतने लम्बे अरसे में शान्ति और सुख के प्रवाह चलते रहे। और लोगों ने हर प्रकार से उन्नति की। उस समय के उद्भावन अथवा आविष्कार आजकल की सभ्यता को आश्चर्यचकित करने वाले हैं। ऐसा क्यों था? और अब क्यों नहीं? कारण यह कि उस समय प्रत्येक अपने व्यक्तित्व के उत्थान से देवता बनकर समष्टि का पुजारी था। यानी व्यष्टि और समष्टि को एक साथ ऊपर उठा रखा था। बस यही भेद है। इस समय भी अगर हम ने ऊपर उठना है, तो यही वेद का मार्ग अपनाना पड़ेगा। देश का उत्थान भी इसी से है। व्यक्ति का उत्थान स्वतंत्रता से हुआ करता है, किसी राजनियम के दबाव से नहीं। परन्तु समाज की उन्नति परतंत्रता से होती है, अर्थात सामाजिक नियमों के पालने से।

ऐसी बातों पर ध्यान करके ऋषि ने दसवें नियम को इस प्रकार लोगों के समक्ष रखा! "सब मनुष्यों को सामाजिक सर्व हितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिये और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतंत्र रहें।"

परन्तु ऐसे नियमों को बनाने के लिए जैसा पहले वर्णन किया गया है, बड़े आत्म-बल की आवश्यकता है, और आत्मबल का स्रोत केवल परमात्मा है, इस लिए यह अनिवार्य है, कि इस समाज की नींव

आस्तिकता पर हो। इसी कारण इन नियमों की सूची में प्रथम नियम है—सब सत्य विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं उन सब का आदिमूल परमेश्वर है।

यह ठीक है, कि इस वक्त देश में रहने वाले ईसाई अथवा मुसलमान ईश्वरवादी हैं और एक लाशरीक खुदा को मानने वाले हैं। यह और बात है, कि उन को ईश्वर का वास्तविक ज्ञान कितना है। परन्तु देश के अक्सर हिन्दू, जो प्रभु के ज्ञान के न्यासी माने जाते हैं, प्रभु को नहीं मानते। नास्तिकता की जड़ें इन के मनों में बड़ी दृढ़ता से जम रही हैं। इनमें बहुत से ऐसे भी हैं, जो अपने आप को ही 'वही' समझते हैं अर्थात यह अहंवादी अपने आपको सृष्टिका रचयिता मानते हैं। अहं ब्रह्म अस्मी अथवा शिवो अहम् की गूज भी लगाते हैं, हालाकि वह दस ईंट भी नहीं उठा सकते। अगर ध्यान से सोचा जावे, तो इस जाति के पतन का मूल कारण यही अहम्मन्यता ही हो सकती है, ऐसे अभिमान का और परिणाम ही क्या हो सकता है? अगर प्रत्येक व्यक्ति ही ईश्वर है, या कोई अल्पज्ञ जीव ही परमेश्वर हो सकता है, तो ईश्वर है ही क्या? और जब सर्वव्यापक ईश्वर नहीं, तो सर्वव्यापक गुण कहाँ? क्योंकि गुण बिना गुणी के और गुणी बिना गुण के नहीं हुआ करते, इन का सम्बन्ध अटूट और सदैव रहने वाला है। इस से स्पष्ट है, कि हमारे दिलों में सर्व व्यापक परमात्मा के अभाव से उस के उन गुणों का भी जो हमारे आदर्श हुआ करते हैं, अभाव हो जाएगा। और बिना आदर्श के जीवन का उत्थान कठिन है। कहा जा सकता है, कि हमारे कर्तव्य, महापुरुषों की जीवनी में प्रदर्शित हुआ करते हैं। इसलिए हमारे आदर्श के लिए इन्हींका कार्य कलाप काफी हो सकता है। यह सत्य तो है परन्तु महापुरुष किसी विशेष समय में और विशेष स्थान पर ही पथ-प्रदर्शक हुआ करते हैं। उन की छाया, काल और स्थान से सम्बन्धित होने के कारण सीमा-बद्ध हुआ करती है इस लिए सर्वदा हर देश में लाभप्रद नहीं हुआ करती। समय बदलता है। हर देश की अपनी अपनी समस्याएँ हुआ करती हैं। इस लिए इन के सुधार की योजनाओं में भी विभिन्नता रहती है। क्या हम नहीं देखते कि इन महापुरुषों के नाम

पर चलाए हुए मत मतांतर जो किसी स्थान अथवा समय में कितने ही अच्छे होंगे, इस वक्त स्थितियों के बदलने से दुःख भरी घटनाओं के कारण हो रहे हैं। विपरीत इस के ईश्वर के गुण कर्म स्वभाव एक समान और एक सार रहते हैं, और सदैव उत्कृष्टता की ओर ले जाने वाले हैं। इसलिए ईश्वरीय गुणों को अपनाना और उसी की आज्ञा में रहना ही सर्वदा उपयोगी है।

शायद आप पूछें कि प्रभु के गुणों अथवा उन के आदेशों की जानकारी कैसे हो, तो इसके उत्तर में इतना कहना पर्याप्त होगा कि 'स्मरणशक्ति की उद्दीप्ति से' यानि प्रभु के गुणों और आदेशों को सम्यक संबुद्धि से जानकर उनकी प्राप्ति में संलग्न होने से।

साम्यवाद भी एक वैदिक सिद्धांत है। इस को जीवन में धारण करने के लिए अपरिग्रह एक धर्म माना गया है। अपरिग्रह क्या है? यही कि शरीर यात्रा के लिए जितना आवश्यक हो, उस से अधिक पैसा अन्न आदि न लेना। यह भी एक व्यापक धर्म है और पांच यमों में एक है, जिस का अपनाना समाज की उन्नति के लिए अनिवार्य है। इस को अपने जीवन में ढालना कोई आसान काम नहीं। अगर इस का ठीक ठीक व्यवहार हो सकता है, तो केवल प्रभु के आदेश को स्मरणशक्ति से ज नकर। ईश्वर का आदेश है, "हे मनुष्यो मैं सब के पूर्व विद्यमान सब जगत् का पति हूँ। मैं सनातन जगत्कारण और सब धनों का विजय करने वाला सब को सुख देने हारे जगत् के लिए नाना प्रकार के भोजनों का विभाग पालन के लिए करता हूँ।" "आप इन पदार्थों को लालच में पड़कर इकट्ठा न करना, क्योंकि यह सब वस्तुएँ आपकी नहीं।

ऐसे आदेशों में श्रद्धा और आसक्ति के होने से ही इन का पालन हो सकता है।

इस के प्रसंग में यह भी ध्यान करने योग्य है, कि वैदिक कालीन साम्यवाद और इस के आधुनिक रूप में अंतर है वैदिक कालीन सिद्धांत ईश्वर आलंबित है। आस्तिकता इसका आधार है। इस को सर्वव्यापी गुण मान कर ही स्वतन्त्रता से हर व्यक्ति स्वीकार करता है। इस से उसका व्यक्तित्व उत्कृष्टता को प्राप्त हो कर सुख का कारण हुआ

करता है। स्वतंत्रता में आत्म-तृप्ति है, जिस के कारण यह कठिन से कठिन कार्य को सहर्ष पूर्ण कर सकता है। इस के विपरीत आधुनिक साम्यवाद का आधार-स्तंभ या तो पार्टी का दवाव होता, या राज्य का दंड। इस में व्यक्ति की उत्कृष्टता का तो कहना ही क्या है, इस का इस में स्थान ही नहीं। इस वक्त इस की आवश्यकता क्यों जान पड़ी? क्योंकि हम ने अपने देश या समाज के निर्माण में वैदिक परम्परा की गौरव-गाथा को विस्मृत कर दिया और व्यवहार से इसे निकाल दिया।

क्या कठोपनिषद की प्रारम्भिक कथा में यह नहीं बताया गया, कि जब वेद-मन्त्रों की ध्वनि सभी दिशाओं में गूंजती थी, उस समय लोग सर्वमेध यज्ञ किया करते थे, जिस में अपनी पांच या तीन वर्षीय सम्पत्ति को योग्य पुरुषों में बांट कर साम्यवाद को व्यवहारिक रूप देते थे, और एक प्रसिद्ध अलौकिक क्रिया से दिव्य-गुणों से युक्त आनन्द के भागी होते थे। क्या कोई स्मरणशक्ति विना धन को इस तरह बांट कर किसी प्रकार के सुख को अनुभव कर सकता है।

इस सारे कथन का तात्पर्य यह है, कि इस प्रकार स्वामी जी ने उस समाज की संस्थापना की जिस का आधार केवल परमेश्वर है। उन्होंने किसी भी समाज के सहायक बनने से इस लिए इनकार कर दिया, कि जब सब का सहायक एक ईश्वर है, तो कोई मनुष्य भाई कैसा ही हो, किसी का कैसे सहायक हो सकता है? इसी लिए जब इस समाज के जो नियम बनाए गये, वह सर्वव्यापक परमात्मा के गुणों के ठीक अनुरूप हैं, जिस से यह हर स्थान और हर काल में माने जा सकते हैं। इस से 'समाज' का एक व्यापक रूप हो जाता हैं। हर एक प्राणी कहीं का भी हो, इसका सदस्य कहला सकता है।

१८७७ के केसरी दरबार के अवसर पर सब धर्मों में एकता के लिए जो कांफ्रेंस स्वामी दयानन्द ने बुलाई, उसमें उन्होंने प्रस्ताव रखा, कि सब धर्मों के नेता वेदों को स्वीकार कर लें।

१८८५ में ब्रह्म समाज के एक नेता नवीनचन्द्र राय ने 'ज्ञान प्रदीप' में इस कांफ्रेंस की चर्चा करते हुए लिखा था—फिर दूसरी बार

हमारा मेल स्वामी जी से दिल्ली दरबार के समय हुआ। वहां पर श्री केशवचन्द्र सेन, श्री हरिश्चन्द्र और चिन्तामणि भी निमंत्रित थे, स्वामी जी ने कहा, कि हम लोग पृथक पृथक धर्मोपदेश न कर के एकता के साथ कहें, तो अधिक फल होगा। परन्तु हमारे मूल विश्वास में भेद था। एकता न हो सकी।

१८८० में स्वामी जी ने सेण्टस पीटर्स चर्च आगरा के बिशप महोदय से कहा—यदि हम और आप तथा अन्य धर्मों के बुद्धिमान नेता केवल उन बातों का प्रचार करें, जिन्हें सब मानते हों, तो एकता स्थापित हो सकती है, अलग केवल नास्तिकवादी रह जाते हैं। किन्तु स्वार्थी तत्व स्वामी जी की बात कैसे मानते?

७

# ऋषि दयानन्द साहित्यकार तथा भाष्यकार के रूप में

साहित्य क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर में संक्षेप रूप से कहा जा सकता है, कि यह किसी देश अथवा काल के लिपिबद्ध विचारों का नाम ही है, और इसमें हर प्रकार की पद्यात्मक तथा गद्यात्मक रचनाएँ पाई जाती हैं। इतिहास, उपन्यास, नाटक और भिन्न-भिन्न प्रकार के किस्से-कहानियां इसके अंग माने जाते हैं। इनमें से प्रथम अंग में तो आपको राजा महाराजों के वृत्तान्तों के उल्लेख ही मिलेंगे, परन्तु दूसरे अंगों में साधारण लोगों की जीवन-चर्या और लोकाचार की झलकें दृष्टिगोचर होंगी। ऐसे लोक तत्त्व के ग्रन्थों के समूह को लौकिक साहित्य भी कहा जा सकता है। परन्तु ऐसे भी ग्रन्थ हुआ करते हैं, जिनमें धर्म सम्बन्धी लोगों का आचार व्यवहार अथवा मूल सिद्धान्त और उनका स्पष्टीकरण पाया जाता है। इनको हम धार्मिक साहित्य का नाम दे सकते हैं। इनमें कुछ ऐसे भी ग्रन्थ होते हैं, जिनमें केवल सूत्रों तथा मूल ग्रन्थों की व्याख्या पाई जाती है। ऐसी रचनाएँ भाष्य के नाम से सिद्ध हैं।

साहित्यकार तथा भाष्यकार इन दोनों ने बड़े गम्भीर दुर्गम घटनाओं अथवा सिद्धान्तों को सरल और सुगम बनाने का बीड़ा उठाया हुआ होता है। मेरे कौन पाठक हैं ? वह कौन-सी भाषा को समझते हैं या किस भाषा में किसी विशेष कथा या सिद्धान्त का वर्णन आम लोगों के लिए आसान हो सकता है। लिखने की कौन-सी शैली अपनाई जावे, जिससे कि वर्णित कथा का परिणाम पाठकों के हृदयों में प्रवेश कर उनको अपने रंग में रंग सके। शब्दों का चुनाव और वाक्यों में उनके ठीक-ठीक स्थान का भी ध्यान रखना आवश्यक हुआ करता है, जिससे

कि प्रत्येक को लेख के अभिप्राय के समझने में कठिनाई न हो। इन सब प्रश्नों के सुलझाने की विशेषताएँ दोनों प्रकार के लेखकों में पूर्णतया होनी चाहिएँ। परन्तु भाष्यकार का काम साहित्यकार की अपेक्षा कुछ अधिक है। उसने साहित्य के उत्पन्न करने के अतिरिक्त सूत्रों को सुलझाना भी होता है। अर्थात् उसका विशेष कार्य उन गुप्त दार्शनिक विचारों को जो छोटे-छोटे अर्थ गर्भ शास्त्रोक्त वाक्यों में लीन हुआ करते हैं, सरल और स्पष्ट भी करना होता है। इससे स्पष्ट है, कि हर साहित्यकार भाष्यकार नहीं होता, परन्तु हर भाष्यकार का साहित्यकार होना जरूरी है। ऋषि दयानन्द भाष्यकार थे, इसलिए साहित्यकार भी थे। किन्तु धार्मिक साहित्यकार थे, और एक सच्चे साहित्यकार के नाते साधारण लोगों की सुगमता के लिए और इनको वैदिक पथ पर चलाने के लिए वैदिक सिद्धान्तों तथा वैदिक कर्मों के स्पष्टीकरण के भार को अपना कर्त्तव्य मान कर ही अपने सिर पर उठा लिया। और फिर किस सुन्दरता से इसे निभाया, वह उनकी कृतियों से हमारे समक्ष है।

वैदिक काल को छोड़ कर बाकी समय का जो संस्कृत साहित्य मिलता है, उसके अध्ययन से जान पड़ता है, कि उसमें बड़े कठिन और दुर्गम विषयों को सरल और स्पष्ट करने के लिए जो पद्धति अपनाई गई है वह कई प्रकार की गाथाओं और कहानियों पर अवलम्बित है। परन्तु ऐसी क्रिया कुछ लाभदायक साबित नहीं हुई। कारण यह हैकि इन कहानियों के नायकों और अन्य नाटकीयों को, जिन्होंने किसी साहित्यकार के मस्तिष्क में जन्म लिया था, "समय" ने वास्तविकता का रूप प्रदान कर दिया, जिससे कि वह साधारण मनुष्यों की स्मृतियों में दिव्य आकृतियों वाले होकर अलौकिक कृतियों के जन्मदाता के रूप में बस गए। साहित्यकारों के ऐसे खिलाड़ी अकसर देवता या भूत-प्रेत भी बन जाया करते हैं, जिसके कारण उन कहानियों से झलकते हुए परिणाम अथवा नैतिक उद्देश्य निरर्थक हो जाया करते हैं। इसी कारण ऋषि दयानन्द ने वैदिक सिद्धान्तों की स्पष्टता के लिए जो शैली अपनाई,

वह केवल दार्शनिक है, और आधुनिक विज्ञान काल में ऐसी प्रणाली ही स्पष्ट हो सकती है।

**साहित्यिक भाषा :**—साहित्यिक क्षेत्र एक विशाल क्षेत्र है। एक सच्चे साहित्यकार ने अति मनोरंजक विधि से जनता में प्रचलित बुराईयों को उनके समक्ष रखना होता है। और साथ ही उनके जीवन का नैतिक आदर्श भी प्रत्यक्ष विद्यमान् करना होता है। ऋषि दयानन्द ने देश की ओर ध्यान करते हुए देशवासियों की बहुत-सी त्रुटियों को देखा। भारत पर दूर प्रदेश के लोगों का शासन देखा। एक राष्ट्र का दूसरे राष्ट्र पर किसी प्रकार का अधिकार रखना या शासन करना एक बड़ी भयंकर घटना हुआ करती है। पराया राज्य कितना ही अच्छा हो, फिर भी अपने किसी प्रकार के राज्य की अपेक्षा अच्छा नहीं हो सकता। कारण स्पष्ट है कि दूर देशान्तर का शासक-वर्ग अपनी शासित प्रजा को कैसे समझा सकता है? उनकी उन्नति तथा उसकी संस्कृति शासन के लिए क्या अर्थ रखती है? और फिर यह भी है कि शासित अपनी संस्कृति, सभ्यता तथा बोली आदि को निंद्य जान कर अपने शासक का ही अनुकरण करने वाला हुआ करता है। इसलिए एक शासित देश एक पाप लोक ही माना जाता है, और ऐसे देश के रहने वाले दण्डनीय ही माने जाते हैं।

शासक राष्ट्र की ऐसी इच्छा हुआ करती है, कि किसी प्रकार उस का शासन सदैव के लिए बना रहे। इसके लिए वह जरूरी समझता है, कि साधारण प्रजा अपने पूर्वजों के इतिहास को भूल जाए। अपनी पुरानी सभ्यता और संस्कृति को, आधुनिक विकास-वाद के सिद्धान्त अनुसार, जंगली लोगों की कृतियाँ समझें। जब तक किसी शासित राष्ट्र को अपने देश के अतीत काल का गर्व रहता है, तब तक स्वतन्त्रता के लिए रक्त उसकी धमनियों में जोश मार सकता है। इसलिए राज्य अधिकारियों का यह प्रयत्न हुआ करता है, कि शासित लोग अपने साहित्य से दूर रहें। और इसके लिए सहज रास्ता यही है, कि इनकी भाषा अथवा बोली को बदल दिया जावे। इससे देश के कुछ व्यक्तियों को थोड़ा बहुत लाभ हो सकता है। परन्तु ऐसा होना देश को

उन्नति में एक बड़ी भारी बाधा हुआ करती हैं। गुलामी की कड़ियें खूब मजबूत हो जाती हैं। क्योंकि इससे राष्ट्रकी आधार-शिला ही मिट जाती है। ऋषि ने ऐसी ऐसी बातों पर खूब ध्यान दौड़ाया। अपने लिए किसी विचार-वाहक की खोज की। भारत की प्रादेशिक भाषाओं को देखा। इनमें विभिन्नता होते हुए भी इनके शब्दों के मूल-रूप में एकता देखी। जिनका मूल-आधार संस्कृत भाषा ही था। दूसरे यह भी है, कि देश का सारा साहित्य संस्कृत में हीं तो है। उसको ठीक ठीक समझने के लिए संस्कृत भाषा-ज्ञान का अति आवश्यक है। आखिर कोई भी भाषा हो यह विचारों और भावों के प्रकट करने के लिए ही तो होती है। इसलिए स्वामी जी ने विचारा कि संस्कृत साहित्य में पड़ी हुई आर्यों के विचारों की पुरानी पूंजी को कैसे काम में लाया जा सकता है या इस मूल-धन से हम धनाढ्य कैसे हो सकते हैं ? जब तक कि इस धन (संस्कृत) को हम ग्रहण नहीं करते, या इस को ठीक व्यवहार में नहीं लाते।

ऋषि दयानन्द ने ऐसा सोचकर ही अपने कार्य विशेष की पूर्ति के लिए जिस माध्यम को अपनाया, वह वैदिक काल के आर्यों की भाषा ही थी। अर्थात वैदिक काल के विचारों के समझने के लिए उस काल की भाषा को ही वाहन-रूप देना आवश्यक समझा। इसी कारण स्वामी जी अपने गुरु गृह के छोड़ने के पश्चात कोई आठ वर्ष पर्यन्त संस्कृत में ही बोलते, संस्कृत में भाषण करते और हर प्रकार का लिखना पढ़ना संस्कृत में ही करते थे। इनके उपदेश संस्कृत-भाषा में होते हुए भी ऐसे सरल होते, कि इस भाषा का थोड़ा बहुत ज्ञान रखने वाले व्यक्तियों को भी समझने में कोई कठिनाई न होती। इस सम्बन्ध में इनकी कलकत्ते की यात्रा वर्णनीय है—

स्वामी जी कलकत्ता के प्रसिद्ध बैरिस्टर श्री चन्द्रशेखर सेन के निमन्त्रण पर दिसम्बर १५ सन् १८७२ में कलकत्ता पहुँचे। कलकत्ता उस वक्त भारत के अंग्रेज साम्राज्य का शासकीय निवास स्थान था। स्वामी जी ने शहर के बाहर एक वाटिका में अपना निवास किया। बैरिस्टर और उनका एक सुपुत्र हर समय स्वामी जी की सुविधा के

लिए उपस्थित रहते थे। इन दिनों कलकत्ता में ब्रह्म समाज का (जो राजा राम मोहन का चलाया हुआ एकेश्वर-वादी पंथ है) बोल बाला था। स्वामी जी यहां 'ब्राह्म-नगर रात्रि-पाठशाला' में अपने उपदेश कई सप्ताह तक करते रहे। इनमें से एक भाषण का वर्णन कलकत्ता के प्रसिद्ध पत्र "इन्डियन मिरेर" (२२) फरवरी १८७३) में इस प्रकार मिलता है—

"दिनांक रवि, ६ फरवरी को पंडित दयानन्द सरस्वती का वैदिक सिद्धान्तों पर एक भाषण ब्राह्म-नगर रात्रि स्कूल में हुआ। यह व्याख्यान कोई तीन घन्टे से अधिक समय तक सरल सहज संस्कृत भाषा में हुआ। स्वामी जी ऐसे सुवक्ता तथा वाग्मी थे, कि उपस्थित श्रोताओं की एक बड़ी भीड़ से एक व्यक्ति भी व्याख्यान के इस लम्बे समय में हिल भी न पाया। ब्रह्म समाज के अनुयायी एकेश्वरवादी तो हैं, परन्तु इस सिद्धान्त का उद्भाव राजा राम मोहन से ही समझते हैं। वेदों के अन्दर तो देवी देवताओं की उपासना ही को मानते हैं, और अच्छे या बुरे रिवाज जो भी हिन्दू जाति में प्रचलित हैं, वह सबके सब वेदों से ही सम्बंधित करते हैं। ऐसे मत वालों के लिए स्वामी जी की वैदिक सिद्धान्तों की एकेश्वरवादी विवृत्ति एक आश्चर्य-जनक कथा थी। स्वामी जी ने बड़ी स्पष्टता से वेद के अन्दर कई नामों से एक ही ईश्वर की उपासना दिखाई। छोटी आयु में शादी का करना वेदों के विरुद्ध बताया। वर्ण को जन्म से नहीं, कर्म से ही वेद का निर्देश सिद्ध किया। ऐसी ऐसी बातें सुनकर श्रोताओं का विस्मित हो जाना कौन सी बड़ी बात हो सकती है।

बाबू केशवचन्द्र सेन स्वामी जी के बड़े प्रशंसकों में से एक थे। इनके कहने से इनके स्थान पर कुछ वैदिक मत पर व्याख्यान भी किये। एक दिन की बात है, कि बाबू जी ने कुछ निराशा सी प्रकट करते हुए कहा, कि क्या ही अच्छा होता अगर स्वामी जी अंग्रेजी पढ़े होते? और फिर हम दोनों यूरोप में विशेषकर इंग्लैण्ड में वैदिक मत के प्रचार के लिए इकट्ठे जाते। स्वामी जी ने इसके उत्तर में कहा, यह कोई अफसोस की बात नहीं। देश का बोझ सिर पर है। परदेश

की जब सोचें, जबकि अपने देश की सुव्यवस्था हो जावे। इसलिए अगर कोई शोक की बात हो सकती है, तो यह कि आप संस्कृत नहीं जानते। क्योंकि अगर आप जानते, तो आप जैसे वक्ता उस गुप्त-ज्ञान धन को विदेशों में फैला सकते। इस पर बाबू केशव चन्द्र सेन चुप हो गए।

यह स्वयंसिद्ध बात है, कि हमारे देश के सुधार को और विद्वानों के हृदयों में पराये राज्य के कारण एक कंपन सी होती है, जिससे कि लघुमन्यता की ज्वाला प्रज्वलित हो जाती है। ऐसी सम्भावना और भी अधिक हुआ करती है, जब ऐसे सुधारक अंग्रेजी भाषा के विशेषज्ञ हों, और दूसरे स्वतन्त्र देशों का इतिहास पढ़ लिया हो। इससे लघुमन्यता की प्रतिक्रिया से अहमन्यता की जागृति हो सकती है। और अपने पुराने ब्रह्म-ज्ञान की आड़ में अमेरीका और इङ्गलैण्ड के देश की ओर दौड़ लगाते हैं, यह बताने के लिए, कि क्या हुआ, अगर हम दास हैं ? दास शरीर हुआ करता है। हमारे अस्तित्व से इसका क्या सम्बन्ध ? हम अध्यात्मवाद में आप से कोसों ऊंचे हैं। परन्तु ऋषि दयानन्द के भाव इनके प्रतिकूल थे। वह भौतिक तथा अध्यात्म उन्नतियों को एक दूसरे के आश्रित देखते थे। वेद के पुराने सिद्धान्त कुछ कामके नहीं, अगर यह दोनों प्रकार से हमारी उत्कृष्टता सिद्ध नहीं कर सकते, और फिर हमें इस योग्य नहीं बना देते, कि हम स्वतन्त्र देशों की श्रेणी में अपने सिर ऊपर उठाकर न बैठ सकें। और इसको कोई असम्भव भी नहीं समझते थे, परन्तु शर्त यह कि हम अपनी संस्कृति को अपनाने के लिए वेद मार्ग पर चलें। स्वामी जी यह भी समझते थे, कि एक पथिक को जो नई सुन्दर परन्तु गलत सड़क पर चल रहा है, वेदोक्त पुराने उपेक्षित धन की ओर संकेत के कुछ मानी नहीं होते, जब तक कि उस ओर इन्हें धकेला न जावे। इसके लिए देश की स्वतन्त्रता की जरूरत है। परन्तु यह भी ध्यान के योग्य है कि देश की संस्कृति चिर-काल से पराये राज्य के प्रभाव अथवा दबाव से दबी पड़ी है। इसलिए जब तक इसको उभारा नहीं जाता, स्वतन्त्रता भी देश के दुःखों के मिटाने के लिए लाभदायक नहीं हो सकती।

व्यक्ति जीवन की उत्कृष्टता के न होने से समाज की उत्कृष्टता कहाँ हो सकती है। पराधीनता एक बुरी वस्तु है। यह बात तो लोगों को समझाई जा सकती है, परन्तु स्वाधीनता में भी आधीनता है, इसका समझना बड़ा कठिन है। क्योंकि इसके समझने में स्वार्थ का रास्ता छोड़ना पड़ता है। प्रमाद से अलग होकर अपने कर्त्तव्यों का पालन करने वाला बनना पड़ता है। गफलत और लापरवाही से असंगति कर एक परिश्रमी व्यक्ति होना पड़ता है, स्वतन्त्रता का जीवन एक बड़ी जिम्मेदारी का जीवन हुआ करता है। ऐसे जीवन के लिए एक ही दवा है, और वह है, देश की पुरानी वैदिक संस्कृति, या वेद मार्ग, जिसका आरम्भ होता है, संस्कृत भाषा के अपनाने से। इसी कारण स्वामी जी चार महीने कलकत्ते में रहकर संस्कृत में उपदेश अथवा अन्य व्यवहार करते रहे।

यहाँ पर ही एक और दिन की बात है, कि बाबू केशव चन्द्र सेन ने कहा, कि स्वामी जी यह तो ठीक है, कि अतीत काल की संस्कृति को जाग्रत करने के लिए संस्कृत जरूरी है, परन्तु आप के विचार और उपदेश इस वर्तमान काल की स्थिति में साधारण जनता तक नहीं पहुँच सकते, क्योंकि संस्कृत के समझने वाले इस समय नाम मात्र ही हैं। यह ठीक है, कि इस समय भारत की कई बोलियाँ हैं, और न्यून से न्यून चौदह भाषाएँ हैं, किन्तु कोई बयालीस प्रतिशत हिन्दी-भाषी हैं और कोई अस्सी प्रतिशत इसके समझने वाले हैं। इसलिए यह अच्छा होता अगर आपके भाषण हिन्दी में हों। स्वामी जी ने बाबू जी के इस विचार में अपने उद्देश्यों की पूर्ति देखी और झट स्वीकार कर लिया। और तब से हिन्दी को ही अपने व्याख्यानों तथा उपदेशों का वाहक बनाने के लिए हिन्दी का अध्ययन भी किया। और फिर अपनी प्रसिद्ध पुस्तक सत्यार्थ प्रकाश को हिन्दी में लिख कर इसकी हस्तलिपि को श्री राजा जैकिशन दास सी० एस० आई० की देखभाल में छपवाने के लिए उनके पास भेज दिया। यह घटना ईस्वी संवत् १८७४ के आरम्भ की है, जबकि ऋषि ने अभी तक हिन्दी का अध्ययन पूर्ण नहीं कर लिया था। क्योंकि इस पुस्तक के दूसरे संस्करण की भूमिका में लिखते

हैं—-कि जिस समय मैंने यह ग्रन्थ 'सत्यार्थ प्रकाश' बनाया था, उस समय और उससे पूर्व संस्कृत भाषण करने, पठन-पाठन में संस्कृत ही बोलने और जन्म भूमि की भाषा गुजराती होने के कारण से मुझ को इस भाषा का विशेष परिज्ञान न था। इससे भाषा अशुद्ध बन गई थी। अब भाषा बोलने और लिखने का अभ्यास हो गया है······"

इससे स्पष्ट है कि, स्वामी जी जिस बात को ठीक समझते थे, उसको अपने जीवन में ढालने के लिए सदैव प्रस्तुत रहते थे। उपर्युक्त घटना के [पश्चात् स्वामी जी ने यह भली प्रकार समझ लिया, कि देश के विद्वानों की भाषा तो संस्कृत ही होनी चाहिए, परन्तु जन-भाषा केवल हिन्दी ही हो सकती है। इसलिए देश की एकता तथा स्वतन्त्रता के लिए इसको अपनाने में देर नहीं होनी चाहिए। स्वामी जी ने स्वयं इसको धारण किया और अपने देशवासियों को ऐसा करने के लिए परामर्श भी दिया। क्या हम इसका अनुकरण करेंगे? हाँ, करना पड़ेगा, अगर हम देश की स्वतन्त्रता को स्थिर रखना चाहते हैं।

इस कलकत्ता की घटना के पश्चात् स्वामी जी ने देश का भ्रमण करते हुए न केवल हिन्दी का भाषणों द्वारा ही प्रचार किया, अपितु जहाँ कहीं हो सका, इसको व्यवहार में भी लाने के लिए लोगों को परामर्श दिया। जून १८८२ की घटना है, कि जब ऋषि दयानन्द उदयपुर राज्य की राजधानी चितौड़गढ़ में महाराणा सज्जन सिंह के यहाँ ठहरे हुए थे, और महाराणा को मनुस्मृति का वह भाग जो राज्य प्रबन्ध से सम्बन्धित है, पढ़ाया करते थे, तो उनको यह भी आदेश किया, कि वह अपने राज्य सम्बन्धी हर प्रकार का कार्यक्रम हिन्दी की देव नागरी लिपि में करें। राजा ने स्वीकार कर राज्य का कारोबार इसी लिपि में आरम्भ कर दिया।

क्या स्वामी जी के साहित्य में रस है? इस प्रश्न के उत्तर के लिए हमारे लिए यह जानना जरूरी है, कि 'रस' क्या है? रस किसी साहित्य का एक आवश्यक अंग है, जिससे पाठक का मन इसमें संलग्न हो जाता है। आपने शायद किसी काव्य पाठ या अभिनय-दर्शन में इसका भास भी किया होगा। साधारणतया यह स्त्री-पुरुष की व्यावहा-

रिक जीवन की घटनाओं से उत्पन्न किया जाता है। धार्मिक साहित्य में भी 'रस' का उत्पादक दाम्पत्य प्रेम अर्थात् पति-पत्नी का सम्बन्ध ही तो है। बड़े-बड़े सन्तों और महात्माओं ने ब्रह्म और जीव के प्रेम की तुलना पति-पत्नी के प्रेम से ही की है। सच तो यह है, कि भारतीय संस्कृति में पति-पत्नी का प्रेम, प्रेम की एक आदर्श कल्पना है। कुछ ऐसा भी मानते हैं कि पति-पत्नी का तो प्रेम मृत्यु के पश्चात् भी बना रहता है। इसी कारण भारतीय साहित्य में अध्यात्म प्रगति के लिए इसी प्रेम को उपमान मान कर कई एक रूपक भी प्रचलित हो रहे हैं।

उदाहरणार्थ निम्नांकित गुरु नानक जी कृत एक रचना को देखिए जो इस प्रकार है :—

गुरु मुखि सदा सुहागणी
पिरु रखिआ उर धारि
मिठ्ठा बोल हि निवि चलहि
सेजै खै भतारि

इस वाणी में एक ईश्वरोन्मुख व्यक्ति की तुलना एक सुहागणी से की गई है। दोनों में समता के कारण इनके गुण कर्म स्वभाव एक से होते हैं। ईश्वर-पारायण व्यक्ति वर-तनूके रूपमें वरणीय पति की सेज की शोभा को बढ़ाती है, अर्थात् अपने उत्तम कर्मों से उस सर्वव्यापक प्रभु की कीर्ति को फैलाती है और जिस प्रकार एक सुहागिन मिष्ट-भाषिणी हुआ करती है और या विनम्र भाव से दृष्टि नीची करके चला करती है, इसी प्रकार समष्टि में बसने वाला कोई भी व्यक्ति अपने व्यक्तव्य के अहंकार को मिटा कर सदाचार का पथ अपनाये रखता है।

अध्यात्मवाद में उपर्युक्त वर्णन कोई आश्चर्यजनक नहीं। परन्तु कहने की जो शैली अपनाई गई है, सहज में ही समझ में आ जाने वाली है। और साधारण जन के लिए प्रिय भी प्रतीत होती है। यह ही साहित्य का रस है। इसी प्रसंग में निम्नलिखित बुल्हेशाह की रसात्मक कविता की कुछ पंक्तियाँ हैं, जिसमें जीवात्मा को एक निश्छल गाँव की लड़की से समता देकर इसको अपने प्रभु प्रियतम को

रिझाने या प्रसन्न करने के लिए इस जीवन में अपने कर्त्तव्य-पालन करने का परामर्श है। जैसे एक कन्या अपनी छोटी आयु में सूत कात कर अपने तन को ढांकने के वस्त्र बनाती है, और अपने ब्याह के लिए दहेज भी तैयार करती है, जिससे कि वह ससुराल में जाकर आदर अथवा मान की भागी हो जाती है, ऐसे ही एक व्यक्ति अपने जीवन में अपने कर्त्तव्य पालन कर सुख से दिन काट कर मृत्यु के पश्चात् आनन्द पाने का अभिलाषी हो सकता है। वह पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :—

कुझ कत्त कुड़े, ना वत कुड़े
कुझ ले फकरां दी मत कुड़े
जो पूणी पूणी कत्तेगी
तां नंगी मूल न वत्तेगी
जद सचले 'सौहर' जावेगी
दस साथ के ले जावेगी
जे दाज विहणी जावेगी
तां भूल न किसे भावेगी
उथे शहु तूं कवें रिजावेगी
कुछ लै फकरां दी मत कुड़े
कुछ कत कुड़े न वत कुड़े

ऐसी रसात्मक उपमाएँ साहित्य के किसी विशेष काल से सम्बन्धित नहीं, अपितु आदि काल से ही चली आ रही हैं। वैदिक साहित्य में भी ऐसे-ऐसे दृष्टान्तों की कोई न्यूनता नहीं। वेद में भी प्राकृतिक घटनाओं को रसात्मक बनाने के लिए कुछ स्थान में विशेष कर उषा-विषयक मन्त्रों में ही ऐसी प्रणाली का प्रयोग किया गया है। प्रातः काल उषा की सुन्दरता को देख कर कोई भी प्रश्न कर सकता है, कि यह कैसा दृश्य है, जिसने कि मेरे मन में सौन्दर्य-भावना को उभार दिया है? वेद का उत्तर है, कि इसका कारण सूर्य है, परन्तु कहने का ढंग निराला है। सूरज अपने सात घोड़ों के रथ में बैठ कर अपनी

प्रियतमा की खोज में कोई दो अरब वर्ष से लगा हुआ है, और इससे कुछ अधिक समय तक लगा भी रहेगा, जबकि इस खेल के खिलाड़ी तितर-बितर होकर इस रूपक का अन्त न कर देवेंगे।

इससे सिद्ध है, कि रसात्मक साहित्य की परम्परा वैदिक काल से ही चली आ रही है। इसी का विकास लौकिक संस्कृत साहित्य में भी होता हुआ आज तक किसी-न-किसी सूरत में चला आ रहा है। महाभारत में इसका बड़ा प्रयोग किया गया है। स्वामी दयानन्द के उल्लेखों में भी एक रस है, परन्तु एक निराले ढंग का। स्वामी जी ने वेदों के अनुसार ईश्वर को वरणीय तो माना है। परन्तु प्रभु के अस्तित्व को समझने के लिए अथवा हार्दिक प्रेम को उभारने के लिए 'वर' और 'वर-वधु' का नाटक नहीं रचा। कारण यह कि उन्होंने सर्व-व्यापक निराकर सर्वज्ञ समष्टि को मूर्तिमान करना कुछ ठीक नहीं समझा। उन्होंने अपने लेखों के अन्दर ऐसे रस को कैसे प्रवेश किया, इसके जानने के लिए आपके सामने उनकी प्रसिद्ध पुस्तक सत्यार्थ प्रकाश से निम्नलिखित उद्धरण हैं, जिससे आपको स्वयं ही इस प्रश्न का उत्तर मिल जाएगा—

देखो ! शरीर में किस प्रकार की ज्ञानपूर्वक सृष्टि रखी है, जिस को विद्वान् लोग देखकर आश्चर्य मानते हैं। भीतर हाड़ों का जोड़, नाड़ियों का बन्धन, मांस का लेपन, चमड़ी का ढक्कन, प्लीहा (तिल्ली) यकृत (जिगर), फेफड़ा, पंखा कला का स्थापन, जीव का संयोजन, शिरोरूप मूलरचन, लोम नखादि का स्थापन आंख की अतीव सूक्ष्म शिरा का तारवत् ग्रन्थन, इन्द्रियों के भागों का प्रकाशन, जीव के जागृत स्वप्न, सुषुप्ति अवस्था के भोगने के लिए स्थान विशेषों का निर्माण, सब धातु का विभागकरण, कला, कौशल स्थापनादि अद्‌भुत सृष्टि को बिना ईश्वर के कौन बना सकता है ? इसके बिना नाना प्रकार के रत्न धातु से जड़ित भूमि, विविध प्रकार वट वृक्ष आदि के बीजों में अति सूक्ष्म रचना, असंख्य हरित, श्वेत, पीत, कृष्ण चित्र मध्य रूपों से युक्त, पत्र, पुष्प, फल, मूल निर्माण मिष्ट, क्षार कुटक,

कषाय, तिक्त, अम्लादि विविध रस सुगन्धादियुक्त पत्र, पुष्प, फल, अन्न, कन्द मूलादि रचना, अनेकानिक करोड़ों भूगोल, सूर्य, चन्द्रादि लोक निर्माण, धारण, भ्रामण, नियमों में रखना आदि परमेश्वर के विना कोई भी नहीं कर सकता······"

इस ऊपरी अनुच्छेद से क्या आप के हृदय में किसी सौन्दर्य-भावना का उद्गम अथवा विकास नहीं होता ? अगर नहीं हुआ, तो फिर पढ़िये, या किसी जगमगाती रात को आकाश की ओर देखिये। किसी मनुष्य के बनाये हुए इंजन को देखिये, और इस की तुलना शरीर रूपी यंत्र से करिये। आप देखोगे कि शरीर-यंत्र हर प्रकार से मनुष्यकृत यंत्र से उच्चतम है। यंत्र दक्षता या यंत्र लाभ में शरीर की अपेक्षा कोई दूसरा इंजन नहीं हो सकता। तो क्या आप का मन इस महान यंत्रविद् की खोज में संलग्न नहीं हो सकता ? क्या आप ऐसी गवेषणा में लग कर आप अपने आप को भूल नहीं जाते ? इसी प्रकार भूगर्भ में रंग बिरंगे रत्नों को देखकर और फल-फूल अथवा पत्तों में विषय आसक्त रसों को पाकर और फिर इन के कर्ता के अन्वेषक बन कर इन वस्तुओं के आनन्द को पूर्णतया पाने के लिए और उसके अस्तित्व में लीन होने के लिए कौन प्रयत्न नहीं करता ? ठीक है, इसका सम्बन्ध मस्तिष्क से है, सोच और विचार में है। पहली शैली का सम्बन्ध हृदय से है, गत भोगों से है। इसलिए यह पहली शैली प्रिय तो है किन्तु इस का फल सदा मीठा नहीं होता।

**ऐतिहासिक साहित्य**—स्वामी जी के लेखों में साधारण इतिहास भी है। स्वामी जी अपने देश सम्बन्धी संस्कृति की खोज करते-करते राष्ट्र के राज्य सम्बन्ध में जो कुछ भी कहीं से मिला, उस को न केवल पाठकों के समक्ष ही रख दिया, परन्तु एक सच्चे इतिहासकार के नाते इसके स्रोत का निशान और पता भी बता दिया। और आगे इस गवेषणा को जारी रखने का परामर्श भी किया। स्वामी जी ने सत्यार्थ प्रकाश के एकादश समुल्लास में आर्य्यावर्त्त देशीय राजवंशावली दी है, जिस में श्रीमन्महाराज युधिष्ठिर से महाराज यशपाल तक कोई १२४ पीढ़ियों के राजाओं का ब्यौरा दिया है, जिन का राज्य कोई ४१५७

वर्ष १ मास और १४ दिन रहा। इस राजवंशावली के स्रोत के सम्बंध में लिखते हैं, कि राजाओं के इस ब्यौरे का अनुवाद हम ने एक पाक्षिक पत्र जो श्रीनाथ द्वारे से निकलता था, किया है। और फिर यह भी लिखा है, कि यदि ऐसे ही हमारे आर्य सज्जन लोग इतिहास और विद्या पुस्तकों की खोज कर प्रकाश करेंगे तो देश को बड़ा ही लाभ पहुंचेगा। इस से स्पष्ट है कि स्वामी जी ऐसी खोज के लिए जिस से कि देश की संस्कृति का प्रकाश हो, बड़े उत्सुक रहते थे।

महाभारत वेदव्यास की लिखी हुई है, या नहीं ? इस सम्बन्ध में एक सच्चे इतिहासकार की तरह अपनी कोई विशेष राय न देते हुए इस प्रकार लिखते हैं।

राजा भोज की बनाई "संजीवनी" नामक एक ऐतिहासिक पुस्तक है, जो ग्वालियर के राज्य "भिंड" नामक नगर के तिवाड़ी ब्राह्मणों के घर में है। जिस को लखुना के रावसाहब और उनके गुमाश्ते रामदयाल चौबे जी ने अपनी आंख से देखा है। उसमें स्पष्ट लिखा है कि व्यास जी ने चार सहस्र चार सौ और उनके शिष्यों ने पाँच सहस्र छः सौ श्लोकयुक्त अर्थात् सब दश सहस्र श्लोकों के प्रमाण भारत बनाया था। वह महाराजा विक्रमादित्य के समय में बीस सहस्र और महाराजा भोज कहते हैं कि मेरे पिता जी के समय में पच्चीस और अब मेरी आधी उमर में तीस सहस्र श्लोकयुक्त महाभारत का पुस्तक मिलता है। जो ऐसे ही बढ़ता चला तो महाभारत का पुस्तक एक ऊंट का बोझा हो जाएगा। फिर इसी पुस्तक के प्राधिकार पर लिखते है, कि राजा भोज के राज्य में व्यास जी के नाम से मार्कण्डेय और शिवपुराण किसी ने बनाकर खड़ा किया था। उसका समाचार राजा भोज को विदित होने पर उन पंडितों को हस्तच्छेदनादि दण्ड दिया और उनसे कहा, कि जो कोई काव्यादि ग्रन्थ बनावे तो अपने नाम से बनावे, ऋषि-मुनियों के नाम से नहीं। एक और स्थान पर श्री जगन्नाथ के चमत्कारों के सम्बन्ध में एक प्रश्न उठाया गया है, और यह पूछा गया है, कि क्या निम्नलिखित चमत्कार प्रत्यक्ष नहीं—

(१) कलेवर बदलते समय अर्थात श्री जगन्नाथ की पुरानी मूर्ति

की जगह नई की स्थापना करते समय चंदन की लकड़ी समुद्र में से स्वयमेव आती है। और ऐसा कलेवर के समय एक राजा एक पंडा और बढ़ई मर जाते हैं।

(२) चूल्हे पर ऊपर ऊपर सात हंडे धरने से ऊपर ऊपर के पहिले पकते हैं।

(३) जो जगन्नाथ की परसादी न खावे तो कुष्टी हो जाता है।

(४) रथ आप से आप चलता है परन्तु पापी को (उसका) दर्शन नहीं होता।

ऐसी शंकाओं का उत्तर स्वामी जी एक सुधारक के नाते कह सकते थे, कि यह सब गलत है। परन्तु ऐसे नहीं कहा, बल्कि एक संशोधन करने वाले इतिहासकार के नाते यह कहा, कि एक आदमी, जिसने बारह वर्ष पर्यन्त जगन्नाथ की पूजा की थी, जब विरक्त होकर मथुरा में आया, तो वह मुझसे मिला। मैंने इन बातों का उत्तर पूछा था: उसने यह सब बातें झूठ बतलाईं। क्या यह बातें स्वामी जी के इतिहास में अन्वेषण को प्रत्यक्ष नहीं करतीं। ऐसे ही जब इनको यह बताया गया, कि विन्ध्याचल में विन्ध्यश्वरी काली के बाड़े में मक्खियां नहीं होतीं, तो इसके उत्तर में स्वामी जी ने कहा, कि मैंने अपनी आंखों से सहस्रों नहीं लाखों मक्खियां वहां पर देखीं।

उपर्युक्त उदाहरणों के वर्णन करने का तात्पर्य यह है, कि स्वामी जी ने जहाँ कहीं ऐतिहासिक घटनाओं को वर्णनीय समझा, अपनी खोज का पता निशान बता दिया, अर्थात जिससे सुना, या जहां कहीं पढ़ा, या आँखों देखा, ठीक ठीक लिख दिया। इतिहास की बढ़ती के लिए एक सच्चे इतिहासकार का यही रास्ता हुआ करता है जो ऋषि ने अपनाया। परन्तु एक बड़ी प्रसिद्ध ऐतिहासिक घटना का वर्णन इनकी लेखनी में मिलता हैं, जो किसी बाह्य प्राधिकार पर निर्भर नहीं है। आपकी जानकारी के लिए सत्यार्थ प्रकाश का यह अनुच्छेद निम्न-लिखित है, जो द्वारकाजी के मन्दिर रणछोड़जी के सम्बन्ध में है।

"जब संवत् १९१४ (ईस्वी १८५७) के वर्ष में तोपों के मारे मन्दिर मूर्तियाँ अंग्रजों ने उड़ादी थीं, तब मूर्ति कहाँ गई थीं? प्रत्युत

बाघेर लोगों ने जितनी वीरता की और लड़े शत्रुओं को मारा, परन्तु मूर्ति एक मक्खी की टांग भी न तोड़ सकी। जो श्रीकृष्ण के सदृश कोई होता, तो इनके धुर्रे उड़ा देता और यह भागते फिरते भला यह तो कहो, कि जिसका रक्षक मार खाय उसके शरणागत क्यों न पीटे जाए ?"

यह उस समय की घटना है, जबकि भारत की स्वतन्त्रता के लिए ईस्ट इंडिया कम्पनी के विरोध सैनिक विद्रोह खड़ा हो गया था, और घमासान युद्ध भी हुआ। और फिर यह घटना भी उस समय की है, जबकि ऋषि के जीवन की घटनाओं के खोज करने वालों को यह पता नहीं चलता, कि ऋषि इस समय (१८५७-५६) तक) कहाँ थे। उपर्युक्त घटना जो स्वामी जी ने लिखी है वह कैसे जानी ? अगर सुनकर लिखते तो अपनी शैली के अनुसार कह देते कि अमुक सज्जन से सुनी और अगर पढ़कर लिखते, तो पुस्तक का हवाला देते, और अगर देखकर कहते तो भी ऐसा ही बता देते। यहाँ पर ऐसी कोई बात नहीं लिखी। इसलिए यह एक विवेचनीय समस्या है। और लेख ऐसा है, जो किसी फौजी कार्यालय से किसी प्रभारी अधिकारी का बताया हुआ हो। क्योंकि इस अनुच्छेद के भाव की ऐसी स्पष्टता तो ही हो सकती है जब कि इसका स्रोत ऐसे माना जावे। और अगर इस बात का भी ध्यान रखा जावे, कि उन दिनों वैरागियों, संन्यासियों और अन्य ऐसे व्यक्तियों ने भी भारत की स्वतन्त्रता के लिए इस सैनिक विद्रोह में हर प्रकार से भाग लिया, तो इस बात के मानने में कुछ संकोच नहीं हो सकता कि स्वामी दयानन्द ने ही द्वारिका जी के मन्दिर की रक्षा करने वाले लोगों का नेतृत्व किया, और इस स्वतन्त्रता के युद्ध में देश की सक्रिय सेवा की। यह ठीक है, कि इतिहासकार इसको सोलह आने सत्य नहीं मान सकते, और इसके लिए कुछ और खोज की आवश्यकता समझते हैं। परन्तु जब हम वारेन हेस्टिंग के जो ईस्ट इंडिया कम्पनी की ओर से इस देश के राज्यपाल थे, समय की ओर देखें तो मालूम होता है कि बंगला देश के वैरागियों ने एक बार स्वतन्त्रता के लिए सरकारी सेना से डटकर लड़ाई की थी

और ठीक ठीक शस्त्रों के न होने से पराजय को प्राप्त तो हो गए परन्तु विरोध को न छोड़ा। इसीलिए उन दिनों सरकार की ओर से इन वैरागियों को खतम करने के लिए एक गुप्त राजकीय आज्ञा-पत्र भी जारी किया गया। इससे देश के वैरागी और संन्यासी जंगलों में रहने लगे। इस वक्त यह भी सिद्ध हो चुका है कि मध्यप्रदेश के वैरागियों ने इस १८५७-५८ में होने वाले सैनिक विद्रोह में भाग लिया। और यह भी माना जाता है कि ऐसे वैरागियों का नेतृत्व ऋषि दयानन्द ने ही किया। उपरोक्त सत्यार्थ प्रकाश के अवतरण से भी यही बात सिद्ध होती है।

फिर भी यह प्रश्न हो सकता है, कि स्वामी जी ने अगर ऐसा किया, तो उन्होंने अपने जीवनकाल में ऐसे कहा क्यों नहीं? ऐसा प्रश्न हर साधारण मनुष्य के हृदय में उपस्थित हो सकता है, परन्तु बुद्धिमान लोग इस बात को बड़ी अच्छी तरह समझते हैं, कि देश के ऐसे नेता किसी ऐसी घटना को वर्णनीय नहीं समझते, जिससे कि देश प्रतिकूल स्थितियों के होने पर देश भक्तों की हृदय गुहा में छुपे हुए स्वतन्त्रता के बहुमूल्य बीज नष्ट हो जावें। परन्तु वह इस बात का ध्यान रखते हैं, कि हमारी पराजय के क्या कारण हैं और फिर ऐसा जानकर ही उन के दूर करने में लग जाते हैं। ऋषि दयानन्द ने भी देश की पराजय को देखा, देश की त्रुटियों की ओर भी ध्यान दिया, और फिर इस परिणाम पर पहुँचे, कि जब तक देश में पूर्णतया सुधार नहीं होता। स्वाधीनता के प्राप्त हो जाने पर भी इसका पूरा लाभ नहीं उठाया जा सकता। उन्होंने भारत की बहुसंख्यक हिन्दू जाति, जो इस समय आर्य जाति की उत्तराधिकारी के रूप में है, की और ध्यान दिया। यह जाति कई सम्प्रदायों में बंटी हुई पाई, जैसे अब भी है। परन्तु इनमें कोई एक आध ही ऐसा सम्प्रदाय देखा जो परमात्मा को ठीक समझकर उसको सम्यक ज्ञानपूर्वक मानता हो। उनको यह स्पष्ट जान पड़ा कि यह सब के सब या तो ईश्वर को मानते ही नहीं, या अगर मानते हैं, तो उसका रूप भिन्न-भिन्न मूर्तियों में ही देखते हैं, और उन्हीं में ही अपनी हर प्रकार की शक्तियों के स्रोत को देखते हैं।

लेकिन इस वक्त भारत की सब जनता ने देख लिया है, कि यह मूर्तियाँ कुछ भी नहीं कर सकतीं। क्या लोग इसे समझेंगे, जिससे कि भारतवासी मूर्ति की पूजा छोड़ एक व्यापक की पूजा करते हुए भावनात्मक एकता की सिद्धि कर पायेंगे। बस देश का उत्थान इसी से है, और इसी के लिए प्रयत्न का आरम्भ हो जाना चाहिये।

इस उपर्युक्त वर्णन का निष्कर्ष यह हुआ, कि स्वामी जी ने देशकी स्वतन्त्रता के लिए सक्रिय सेवा की, और फिर प्रतिकूल परिस्थितियों के उपस्थित हो जाने से इस काम को कल पर छोड़ दिया, और सामयिक घटनाओं के अनुसार स्वतन्त्रता के लिए देश की त्रुटियों के सुधार की ओर ध्यान किया। सबसे प्रथम आवश्यकता जो उन्होंने आवश्यक समझी वह यह थी, कि देश के रहने वालों के मन में भावात्मक एकता का प्रादुर्भाव हो। हिन्दुओं में कई देवताओं के स्थान पर सच्चे देवता अर्थात एक सर्व पूज्य परमात्मा का ही मान हो सब के सब परिश्रमी हों और अपने अपने कार्यों में लगे हुए। सबका समाज में माननीय स्थान हो। सब के सब अपनी पुरानी संस्कृति के रंग में ढल कर सदाचारी बन जावें। बस, फिर क्या है, स्वतन्त्रता की देवी देश भर में अपने आप भ्रमण करती फिरेगी।

देशभक्त ऋषि दयानन्द का यही स्वप्न था, जिसको प्रत्यक्ष करने के लिए उन्होंने दिन-रात एक कर रखा था। इससे क्या यह स्पष्ट नहीं, कि देश की स्वतन्त्रता में भाग लेने वाले महात्माओं में इनका प्रथम और महत्वपूर्ण स्थान है। और स्वतन्त्रता के पश्चात भी इनकी यह कण्ठध्वनी गूंज रही है। क्या आप सुन रहे हैं ? वह कण्ठध्वनी क्या है—

"हे विद्वान लोगो ! तुम इस राजधर्म को यथावत जान कर अपने अपने राज्य का ऐसा प्रबन्ध करो, कि जिससे तुम्हारे देश पर कोई शत्रु न आ जाय।"

# उपसंहार

गत पृष्ठों के अध्ययन से आपको ज्ञात हो गया होगा कि ऋषि दयानन्द अपने समय के केवल एक सुधारक ही नहीं थे, अपितु एक महान् क्राँतिकारी भी थे। यह भी आप जान गए होगें कि उनके जीवन के तीन वर्ष (सन् १८५८-५९) के लिए इतिहास चुप है। परन्तु कुछ उनके अपने लेख से और कुछ आधुनिक खोज से प्रतीत होता है, कि उस समय के उमड़ते हुए स्वतंत्रता संग्राम में थे। यह भी जान पड़ता है कि वह वहां पर एक साधारण दर्शक ही नहीं थे, वरन् उस आदोलन में उन्होंने कुछ सक्रिय रूप से भाग भी लिया था। इस सबंघं में जो उल्लेख सत्यार्थ प्रकाश में मिलता है, उसका वर्णन तो पहले किया जा चुका है। फिर भी आप के स्मरणार्थ कुछ और वर्णन कर दिया जाता है। स्वामी जी ने लिखा है कि जब अंग्रेजों की सेना ने अपनी तोपों का मुख द्वारिका मन्दिर की ओर मोड़ा, तो वहां के बाहोर लोगों ने बड़ी वीरता से लड़ाई लड़ी और आक्रमण कारियों के छक्के छुड़ा दिये। ऐसे लेख का क्या परिणाम हो सकता है? इसका उत्तर ब्योरेवार दिया जा चुका है इसके अतिरिक्त आधुनिक अनुसंधान से यह भी प्रतीत होता है, कि इस विद्रोह में वैरागियों और संन्यासियों ने भी भाग लिया। कहा जाता है कि मध्यप्रदेश के वनों में रहने वाले वैरागियों ने इन्हीं के नेतृत्व में रानी झांसी की सहायता के लिए झांसी की ओर प्रयाण किया था।

प्रायः पूछा जाता है, कि ऐसी घटनाओं का क्या सुबूत है? क्या भारत के विरक्त समाज में भी ऐसी भावना हो सकती है, कि वह देश के लिए अपने जीवन की आहुति दे सकें? साधारण रूप से तो इसका उत्तर नकारात्मक है, क्योंकि कोई भी निर्वृत्ति में आस्था रखने वाला प्रवृत्ति के प्रवाह में बहना नहीं चाहता। परन्तु इतिहास साक्षी

है, कि जब बंगाल में अंग्रेजी राज्य जम गया और शासक दल कई प्रकार से अनुचित व्यवहार करने लगा, तो उस समय उस क्षेत्र के वैरागियों और त्यागियों ने ही स्वतंत्रता की पताका फहराई। परन्तु किसी अच्छे प्रकार के युद्धोपकरणों के अभाव से अंग्रेजी सज्जसेना के सामने ठहर न सके और भाग कर वनों में विश्राम करने लगे। इससे अङ्गरेजी फौज की भी इतनी हानि हुई, कि उस समय के गवर्नर जनरल वार्नहेस्टिग ने एक गुप्त परिपत्र जारी किया, जिसमें बड़े बड़े राज्य पुरुषों तथा जमीनदारों को आदेश दिया गया, वह ऐसे फकीरों और वैरागियों की पकड़ धकड़ में पुलिस की सहायता करें, ताकि पूर्ण रूप से ऐसे विद्रोही दल की समाप्ति हो जावे।

क्या इससे स्पष्ट नहीं, कि अतीत काल में विरक्त साधु महात्मा समाज से दूर रहते हुए भी देश को संकट में देख कर जीवन संग्राम में उतर आते थे। और देश की संस्कृति तथा शुद्ध परम्पराओं को स्वस्थ रखना अपना कर्त्तव्य समझते थे। वास्तव में वैदिक काल की जीवन चर्या के संन्यास आश्रम का महत्व इसीलिए है, कि इस पद को पाए हुए व्यक्ति देश की धार्मिक, सामाजिक और राष्ट्रीय व्यवस्था को ठीक रखने के लिए तत्पर रहते हैं। हमारे ऋषि ने भी वैदिक काल की ऐसी परम्परानुसार ही अपने जीवन की आहुति स्वतंत्रता के यज्ञकुण्ड में डाली थी। शायद आप पुनः पूछें कि आपके पास कोई ऐसा प्रमाण है, जो पाश्चात्य इतिहासकारों को मान्य हो और जो यह स्पष्ट करे, कि स्वामी जी ने स्वातंत्र्य संग्राम में सक्रिय योगदान दिया? इसके उत्तर में हम यही कह सकते हैं, कि बड़ी कठिनाई है, परन्तु इस संदर्भ में कुछ और गवेषणा की आवश्यकता है। हां उनके लेखों से यह स्पष्ट है, कि परतंत्रता एक घोर पाप है। पराजय हुआ देश दण्डनीय हुआ करता है। इसलिए उन्होंने लिखा, कि पराया राज्य कितना ही सुखदायी क्यों न हो, वह अपने बुरे राज्य से भी बुरा होता है। इस संबंध में स्वामी जी की भेंट जो गवर्नर जनरल तथा वायसराय लार्ड नार्थब्रूक से हुई उल्लेखनीय है।

यह ई० सन् १८७३ की बात है, कि इंगलैंड के आर्क बिशप द्वारा स्वामी जी की विद्वत्ता का परिचय लार्ड नार्थ ब्रुक को हुआ। लार्ड नार्थ ब्रुक ने स्वामी जी को आमंत्रण दिया। बातचीत करते हुए वायसराय ने कहा, कि पंडित जी मुझे सूचना मिली है, कि आप सब मतमतान्तरों की कड़ी आलोचना करते हो, जिससे सब मतों वाले आपका विरोध कर रहे हैं इसलिए यह आपके विरुद्ध भयानक विचार भी प्रकट कर रहे हैं। क्या आपको अपने शत्रुओं से किसी प्रकार का भय अथवा जान का खतरा है। और क्या आप चाहते हैं, कि शासन आपकी रक्षा का कोई प्रबन्ध करे? इसके उत्तर में स्वामी जी ने कहा, कि अंग्रेजी राज्य में मुझे अपने विचारों के प्रचार की जो स्वतंत्रता है, बस वह ठीक है। मुझे व्यक्तिगत रूप में किसी प्रकार की सहायता नहीं चाहिये।

वायसराय ने फिर कहा, कि यदि आप अपने प्रचार की स्वतंत्रता को अंग्रेजी राज्य की एक विशेषता मानते हो, तो क्या आप अपने व्याख्यानों में इसका वर्णन करेंगे और देश पर पाश्चात्य अंग्रेजी शासन के लिए ईश्वर से प्रार्थना भी करोगे? इस पर स्वामी जी ने कहा, कि "मैं ऐसा करने के लिए असमर्थ हूं। मैं तो चाहता हूं, कि मेरा देश भी स्वतंत्र राज्यों में समानता को पाकर समृद्धि को प्राप्त हो। देश की ऐसी अवस्था के लिए मैं सांय प्रातः ईश्वर से प्रार्थना भी करता हूं।" इस पर बात चीत बन्द हो गई और वायसराय ने इस बागी फकीर पर कड़ी देख भालके लिए आदेश भी दे दिया। "दासता" दरिद्रता है, रोग है, एक दुःख है। चरित्र हीनता से इसकी उत्पत्ति है। किसी प्रकार से जीते रहने की अभिलाषा इसका आधार है। कभी कभी ऐसा होता है, कि किसी देश या जाति के समक्ष मौत और दासता आकर खड़े हो जाते हैं, देश ने इनमें से एक को वरण करना होता है। यदि मृत्यु के डर से देश दासता को अपना ले तो वही दास हो जाता है। गंदगी के कीड़े की तरह अपने ऐसे जीवन को अपना भाग्य समझने लग जाता है। भारतीय सोचते थे, कि यदि भारत के भाग्य में न होता, तो अंग्रेज चार हजार मील से चलकर यहां पर

शासन करने कैसे आते ? परन्तु हम भूल गए, कि भाग्य भी तो कर्म फल है, और कर्म करने में मानव स्वतंत्र है। इसलिए भाग्य के बनाने वाला भी तो मनुष्य आप ही है। इतिहास साक्षी है, कि इस भूमि पर कई जातियाँ ऐसी हो चुकी हैं, दासता से असंगति करके स्वतंत्रता की रण-भूमि में सदा के लिए सो गईं, यह कहते हुए कि इतिहास लिखेगा, कि यहां एक जाति ऐसी रहती थी, जिसने दासता को न अपनाया, और अपनी शांति के लिए मृत्यु को ही ठीक समझा। परन्तु भारत जो एक विशाल, समृद्ध तथा संस्कार युक्त देश था, कैसे दासता के चंगुल में फंस गया ? गुलामी की जन्जीरों में बंधे रहने को क्यों पसंद किया ? यह कुछ ऐसे विचार थे, जो स्वामी जी के हृदय में बार बार उभरते थे। इसमें कोई संदेह नहीं, कि ऐसे विचार निराशा जनक होते हैं, उदासीनता तथा निष्क्रियता को भी जन्म देते हैं। परन्तु स्वामी जी जो एक बड़े आस्था सम्पन्न थे, आशा से भर गए। और ईश्वर की प्रेरणा से देश की दासता के कारणों को जानने और फिर इनको दूर करने में प्रेरित हो गए। उन्होंने देखा कि अनास्था, निरक्षरता और अराष्ट्रीयता जैसे घोर दोषों ने देश वासियों को चरित्रहीन और प्रमादी बना रखा है।

इसके अतिरिक्त जन्म से वर्ण व्यवस्था की मान्यता, छूत-छात और सामाजिक जीवन की ओर उपेक्षा भी कोई कम दोष नहीं, जिनकी ओर स्वतंत्रता के लिए ध्यान न दिया जाए। वास्तव में यह सब पर-तंत्रता तथा आधीनता के दुर्ग की लौह-दीवारें हैं, जिनका तोड़ना जरूरी है। इनको तोड़े बिना यदि किसी प्रकार से स्वतंत्रता पा भी ली जावे, तो यह सब दोष भी स्वतंत्र हो जाएंगे। देश में एक भयानक दृश्य उमड़ पड़ेगा और इसमें व्यक्ति का असंस्कृत यानी पाशव जीवन उभरा हुआ होने के कारण सभ्यता का नाश हो जाएगा और देश एक वन समान।

इस प्रकार सोचते हुए अब स्वामी जी गम्भीरता पूर्वक परतंत्रता के कारणों को दूर करने में जुट गए। सर्व प्रथम जो उन्होंने अत्यावश्यक समझा, वह था देश का एकीकरण। इसके लिए जो योजना, स्वामी

जी ने बनाई, वह उन्होंने दिल्ली दरवार के समय उपस्थित राजों महाराजों और हर मत के नेताओं के समक्ष रखी। इसके अनुसार जो धार्मिक मान्यताएँ हर धर्म में समान रूप से हैं, वही देश का धर्म होना माना गया। एकता के संदर्भ में स्वामी जी की यह देन देश के लिए अब भी इतनी ही लाभदायक है जितनी कि उस समय थी। यह कोई कठिन समस्या भी नहीं, क्योंकि आज शासन अपनी रेडियो वार्ता में इस बात प्रचार करता है, कि सब धर्म समान हैं। इस लिए देश के धर्मों में कुछ न कुछ समानता जरूर होगी, जिनको अलग करके देश का एक धर्म बनाया जा सकता है इसके अतिरिक्त स्वामी जी अपनी प्रसिद्ध पुस्तक में देश भर के सब प्रचलित धर्मों की त्रुटियों को इस अभिप्राय से वर्णन किया है, कि यदि सोच विचार कर हम इन सब त्रुटियों अथवा भूल चूकों को अपने धर्मों से निकाल देवें, तो एक समान शुद्ध धर्म का उद्भव हो जाएगा और देश को ऐक्य रूप देने की बड़ी सम्भावना हो जाएगी। क्या ऐसा हो सकेगा ? यह कोई असम्भव बात तो नहीं परन्तु इसके लिए मन की सरलता और हृदय की पवित्रता चाहिये।

स्वामी जी का 'स्वराज्य' व्यक्ति और समष्टि इन दोनों के लिए एक साथ चलता है। व्यक्ति रूप में हर देशवासी को अपने ऊपर नियंत्रण जरूरी है, जो त्याग और तप से ही पाया जा सकता है। 'समष्टि स्वराज्य' याज्ञिक जीवन का फल है। यह दोनों एक दूसरे पर निर्भर हैं। एक के बिना दूसरा ठहर नहीं सकता। परन्तु यह बात ध्यान रखने योग्य है कि जब कोई देश याज्ञिक हो जाता है, तो उस देश में व्यक्तिगत तथा पार्टीगत स्वार्थ नहीं रहता। हर एक को अपना कर्त्तव्य ही पालन करना होता है परन्तु बिना किसी प्रकार के अधिकार के। ऐसी समाज में न कोई छोटा होता है, और न कोई बड़ा। ऊंच नीच भी नहीं। सब ईश्वर के आज्ञाकारी पुत्र हो जाते हैं, और जो नालायक (कुपुत्र) हो जाते हैं, समाज उनको योग्य बनाने के लिए उपचार करता है। यह वैदिक साम्यवाद है, जो रूस और चीन के

साम्यवाद से भिन्न है। आधुनिक साम्यवाद में जो सबसे उत्तम बात मानी जाती है, वह है कि हर व्यक्ति अपनी शक्ति के अनुसार परिश्रम करे और आवश्यकतानुसार भोग करे। परन्तु उपयुक्त वैदिक साम्य-वाद तो इस बात को मानता है कि हर व्यक्ति जिस तरह हो सके अपना कर्त्तव्य पालन करे और फल की इच्छा ही न रखे। इन दोनों में बड़ा अंतर है। ऐसे वेद के बताए हुए स्वराज्य के लिए ही ऋषि दयानन्द ने प्रचार किया था, जिसके शासन का आधार धर्म-तंत्र था, न कि निरपेक्ष धर्मवाद।

वैदिक संस्कृति की रक्षा का उत्तरदायित्व जैसे अब वैसे उस वक्त भी हिन्दू जाति पर था। परन्तु इसमें कुछ अवैदिक परम्परा चल पड़ी थी। जात पांत, जन्म से वर्ण व्यवस्था, और छूत छात इसके घुन हैं, जो इसको खाए जाते हैं। वेदों का पढ़ना पढ़ाना केवल ब्राह्मणों का ही अधिकार माना जाता था। परन्तु स्वामी जी ने इन सबका बड़े जोर से खण्डन किया, और वेद में दिखाया कि वेदों के पढ़ने पढ़ाने का सबको समानाधिकार है। ऐसे विचारों के प्रचार से हिन्दू जाति घबरा उठी। परन्तु जब ऋषि ने उनके सामने यह वेद का मंत्र रखा—तो चुप हो गई। वह मंत्र है—

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानी जनेभ्यः।

ब्रह्मराजन्याभ्याम शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय ॥ युज २६,२

परमेश्वर कहता है, कि जैसे मैं सब मनुष्यों के लिये कल्याणकारी वाणी (वेद) का उपदेश करता हू, वैसे तुम सब भी करो। इस मंत्र में स्पष्ट रूप से कहा गया है, कि वेद का ज्ञान ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और अन्य जातिएं जो हम से बिछुड़ गई हैं, इन सबके लिए समान रूप से है। इसके अतिरिक्त हम वैदिक साहित्य में ऐसे वाक्य भी देखते हैं, जैसे इससे जान पड़ता है, कि वैदिक काल में कर्मानुसार

पन्च जनः ममहोत्र जुषध्वम। और

चेत्वारोवणः पञ्चमो निषाद :।

इससे जान पड़ता है, कि वैदिक काल में क्रमानुसार मानव के पाँच प्रकार के समूह थे, जिनके प्रतिनिधि यज्ञां में सम्मिलित होते थे और समान रूप से राजकीय कार्यों में भाग लेते थे। किसी क्षेत्र के शासन का कार्य भी इन्ही पांचों के प्रतिनिधि ही किया करते थे, जिन्हें पंचायत कहते थे। ऐसे राज्य की स्थापना ही ऋषि का उद्देश्य था। क्या हम स्वामी के बतलाए हुए रास्ते पर चल रहें है क्या हम ने अपने यज्ञों में इन पांच प्रतिनिधियों को समान रूप से आसन दिये ? क्या हमने इस के लिए कुछ प्रयत्न भी किया या कर रहें हैं ? यह सब विवेचनीय प्रश्न हैं। परन्तु यह बात समझ लेनी चाहिए कि यदि हमने ऋषि के आदेशों की अवहेलना की, तो हमें दासता के पाश में फंसे हुए ही अपना जीवन बिताना होगा। इस संबंध में महाभारत में एक कथा है, जो वर्णनीय है—

जब महाभारत के युद्ध की समाप्ति हो गई तो देश पुनः लगभग दो हजार स्वायत्त राज्यों का एक संघ बन गया परन्तु यह सब के सब केन्द्राभिमुखी थे अर्थात एक केन्द्रीय राज्य के आधीन थे। इसीलिए देश भारत नहीं महाभारत या बृहत भारत कहलाता था। परन्तु इन राज्यों के शासन तंत्र भिन्न भिन्न थे। किसी में यदि राजतंत्र था, तो दूसरे में लोक तंत्र या प्रजातंत्र और कहीं केवल पंचायत का ही शासन था। शायद आप जानते हैं, कि देश के ऐसे शासन तंत्र की योजना के बनाने वाले लोक नायक श्री कृष्णचन्द्र ही थे, जो अपने कार्य को पूर्ण करके अब यादवों की पार्टी अंधक वृष्णि संघ के प्रधान हो गए, और केंद्र के आधीन एक नए नए स्वायत्त राज्य को जन्म दिया, जिसका शासन प्रबंध पूर्ण रूप से लोगों के हाथ मे था। भगवान कृष्ण लोकतंत्र शासन के बड़े पुष्ट पोषक थे। इसलिए ऐसे तंत्र की सफलता के लिए वह दिल जान से प्रयत्न करने लगे। परन्तु थोड़े ही समय के बाद यह ज्ञात हुआ, कि संघ के राज्य पुरुषों में स्वार्थ आ गया है, और वह सब अपनी अपनी कुर्सियों के लिए लड़ने लग गए हैं। इसके अतिरिक्त संघ के शासनाधिकारियों में चरित्र दोष भी आ गये हैं, और अधिकार तथा सत्ता का दुरुपयोग भी कर रहे हैं, जिससे

संघ के लोकतंत्र रूपी वृक्ष की जड़े खोखली होती जा रही हैं। उन्होंने यह भी देखा कि क्रूर, भोज, संकर्षण, गद और प्रद्युम्न यह सबके सब राज पुरुष संघ की सेवा करने की बजाए परस्पर लड़कर अभ्यंतर विपत्तियाँ उत्पन्न करके लोकतंत्र का नाश कर रहे हैं। इससे भगवान कृष्ण उदास और चिंतित रहने लगे, और अंत में प्रधान पद से त्याग पत्र देकर जंगल को चले गए वास्तव में चरित्र हीनता लोकतंत्र को चलने नहीं देती, इस लिए स्वामी जी ने आर्य समाज बनाई इस अभिप्राय से कि इसके प्रचार से लोग चरित्रवान होकर स्वतंत्रता को स्थिर कर सकेंगे क्या हम उनकी आशा पूरी करेंगे।

---

## 'जन-ज्ञान' (मासिक)

प्रेस एण्ड रजिस्ट्रेशन आफ बुक्स एक्ट, १८६७ (१९५६ में संशोधित की धारा ११ डी के अनुसार स्वामित्व आदि के सम्बन्ध में विवरण

| | |
|---|---|
| १. प्रकाशन स्थान | नई दिल्ली |
| २. प्रकाशन की बारी | मासिक |
| ३. मुद्रक-नाम, राष्ट्रीयता और पता | राकेशरानी, भारतीय<br>१५९७ हरध्यानसिंह रोड, नई दिल्ली |
| ४. प्रकाशक का नाम, राष्ट्रीयता और पता | ,, ,, |
| ५. संपादक का नाम, राष्ट्रीयता, और पता | ,, ,, |
| ६, इन व्यक्तियों के नाम व पते जो इस अखबार के मालिक या साझीदार हैं या जो इसकी सारी पूंजी के एक प्रतिशत से अधिक के हिस्सेदार हैं | जन-ज्ञान-प्रकाशन<br>नई दिल्ली-५ |

मैं राकेशरानी, यह घोषित करती हूं, कि उपर्युक्त विवरण मेरी पूरी जानकारी और विश्वास के अनुसार सही है।

ता० २८.२.६९ राकेशरानी प्रकाशक

---

**वेद-ज्ञान और महर्षि दयानन्द की सत्य सनातन**
**विचार धारा के प्रसार-प्रचार हेतु**

# सहयोग दीजिए

संसार अज्ञान अन्धकार में भटक रहा है। विज्ञान और भौतिकवाद ने जीवन के सत्य को भुला दिया है। ऐसे में सत्य, धर्म और शांति आनन्द के मार्ग की रक्षा दयानन्द के दिव्य स्वप्न पूर्ण कर के ही हो सकती है।

हमने 'जन-ज्ञान' द्वारा महर्षि का सन्देश फैलाने और जन-ज्ञान तक वेद-ज्ञान का सन्देश प्रसारित करने का संकल्प लिया है।

साधनों के अभाव में भी महर्षि के सच्चे अनुयायियों के बल और ईश्वर विश्वास के भरोसे हमारा संकल्प सस्ता आकर्षक और आधुनिकतम वैदिक साहित्य देश विदेश की भाषाओं में प्रकाशित करना है।

हम चल पड़े हैं और बढ़ते जायेंगे। आपका जितना स्नेह, सहयोग हमें मिलेगा, हमारी गति उतनी ही तीव्र होगी। अतः इन पंक्तियों द्वारा प्रत्येक उस व्यक्ति से, जिसे वैदिक धर्म और महर्षि दयानन्द के महान् लक्ष्य से प्यार है, हमारी प्रार्थना है कि 'जन ज्ञान" को पूरी शक्ति से सहयोग दीजिए।

**१—जन-ज्ञान (मासिक) के ६) भेज कर सदस्य बनिए और इष्ट मित्रों को बनाइए।**

**२—साहित्य प्रकाशन के लिए जो कुछ भी सहायता दे सकें, दीजिए।**

**३—अधिक से अधिक साहित्य मंगा कर उसे वितरित कीजिए।**

आर्यजन! हमने कार्य आरम्भ कर दिया, आइए हमारे साथ और साहित्य के अस्त्र से धरती का अज्ञान दूर कर 'जन मन' पर 'ओ३म' पताका लहराने का व्रत लीजिए—महर्षि का दिव्य स्वप्न पूरा करने के लिए हम आपसे सहयोग की प्रार्थना कर रहे हैं— स्वीकार कीजिए।

विनीत
भारतेन्द्र नाथ
संचालक

'जन-ज्ञान प्रकाशन'।
१५९७, हरध्यानसिंह रोड़ नई दिल्ली—५

देश–विदेश के अंग्रेजी पढ़े लिखे व्यक्तियों तक

# आर्य समाज का संदेश पहुंचाने हेतु

अधिक से अधिक मंगाए-

स्व० पं० चमूपति एम० ए० लिखित

अमर ग्रन्थ

TEN COMMANDMENTS
OF THE ARYA SAMAJ

आर्यसमाज के १० नियमों को व्याख्या

## सुनहरा आवरण और तिरंगा

महर्षि दयानन्द का चित्र

मूल्य १) ७५) सैकड़ा

## आज ही मंगाकर स्कूल

कालिज और विद्वानों तक

पहुँचाएं : भेंट करें

जन-ज्ञान-प्रकाशन

१५९७, हरध्यानसिंह रोड, नई दिल्ली-५

छप गई ! तैयार है !

# वैदिक-सत्संग-पद्धति

(केवल हिन्दी)

संध्या प्रार्थना मंत्र, स्वस्तिवाचन

शांतिप्रकरण, हवन मंत्र

सब अर्थ सहित

भजनों का अपूर्व संग्रह

प्रसिद्ध विद्वान पं० सत्यपाल शर्मा

वेद शिरोमणि द्वारा तैयार

●

तिरंगा आवरण और महर्षि का

तिरंगा चित्र

## यह सत्संग पद्धति

## पुस्तक अपूर्व भेंट योग्य है ।

मूल्य ५० पैसे ४०) सैकड़ा

## आज ही मंगाएं

जन-ज्ञान-प्रकाशन

१५६७, हरध्यानसिंह रोड, नई दिल्ली-५

# वैदिक धर्म प्रचारार्थ अनमोल पुस्तकें

१, वैदिक सत्संग पद्धति (Vedic Prayer) हिन्दी और अंग्रेजी दोनों भाषाओं—में मूल्य २) सजिल्द २) ५० पैसे

२—सत्संग पद्धति—(हिन्दी में) मूल्य ५० पैसे। ४०) सैकड़ा

३—मृत्यु का सौन्दर्य—(पं० सत्यपालजी)। मूल्य १५ पैसे। १०) सै०

४—मूर्तिपूजा की हानियाँ—(महर्षि दयानन्द) १०) सैकड़ा।

५—मैं कौन हूँ? (प्रो० सन्तराम M. Sc.)। मूल्य २)

६—विजय का स्रोत—वेद मन्त्र की अद्वितीय व्याख्या। १५ पैसे।

७—नवयुग प्रवर्तक महर्षि दयानन्द—२० चित्रों सहित अनुपम जीवन गाथा। आवरण पर ऋषि का तिरंगा चित्र, मूल्य १)। ८) के १०। १८) के २५।

८—The Vedic way of Life By L. Dewan Chand मूल्य १)

९—A Challenge to Christian Faith ३) सै०

१०—पोप की सेना का भारत पर हमला–पं० भारतेन्द्रनाथ साहित्यालंकार लिखित मूल्य १३ पैसे। १०) सै०।

११—ईसाई पादरी उत्तर दें! स्वामी श्रद्धानन्द के ३६ प्रश्न। ३) सैकड़ा।

१२—ज्ञान-विज्ञान का शत्रु ईसाईमत—श्री ओमप्रकाश त्यागी M. P. १०) सैकड़ा

१३—यज्ञ-प्रसाद—महात्मा आनन्द स्वामी सरस्वती लिखित मूल्य ५० पैसे। २५) सैकड़ा

१४—आर्य समाज की मान्यताएं—शास्त्रार्थ महारथी पं० रामचन्द्र देहलवी जी लिखित। १०) सैकड़ा।

१५—विश्व को वेद का सन्देश—पं० भारतेन्द्रनाथ साहित्यालंकार लिखित प्रभावशाली ट्रैक्ट। मूल्य १३ पैसे। १०) सैकड़ा

१६—आर्यसमाज क्या मानता है?—पं० मदन मोहन विद्यासागर १०) सैकड़ा

१७—प्रार्थना मन्त्र व्याख्या हरिशरण सिद्धांतालंकार ३०) सैकड़ा

१८.—Ten Commandments चमूपति एम० ए० १) रु०

**जन-ज्ञान प्रकाशन**

१५६७ हरध्यानसिंह रोड, नई दिल्ली-५

जब भी आप को निम्न वस्तुओं की आवश्यकता हो

# आप कृपया २७५१२४ पर फोन कीजिए

१. डालिमा बिस्कुट — Dalima Biscuits
२. ओवो माल्ट — Ovo Malt
३. मिल्कोटीन — Milkotine
४. कैवेन्टर्स मिल्क केक — Keventer's Milk Cake
५. टिन्ड मक्खन — Tind Butter

निर्माता :—

PATIALA BISCUITS MFG. PVT. LTD.

FOOD, FATS & FERTILISERS LTD.
**(Milkotine & Ovomalt)**

EDWARD KEVENTER (Successors) PVT. LTD.

दिल्ली के लिए एक मात्र वितरक :—

KAPOOR BROTHERS

**34-E, Vikram Nagar, Kotla Feroz Shah,**

NEW DELHI—1.

# कपूर ब्रदर्स

३४—ई, विक्रम नगर, कोटला फिरोज शाह, नई दिल्ली—१

## ❀सम्पूर्ण साधना साहित्य आपकी सेवा में❀

❀आयुर्वेदिक, ❀एलोपैथिक, ❀होम्योपैथिक, ❀बायोकैमिक, ❀यूनानी, ❀प्राकृतिक चिकित्सा, ❀पशु चिकित्सा, ❀काम विज्ञान, तथा ❀स्वास्थ्य सम्बन्धी राष्ट्र-भाषा हिन्दी की, एशिया, अफ्रीका तथा भारत भर की छपी हुई विविध विषय विभूषित, हजारों पुस्तकें आपकी सेवा के लिए प्रस्तुत हैं ।

## परीक्षा प्रार्थनीय है

**एलोपैथिक की संसार की सबसे सस्ती पुस्तक**

१. चिकित्सा आलोक (Chikitsa Aalok)

२. चिकित्सा कला (An Art of Practice of Medicine) मुफ्त लें ।

❀ दस रुपये से अधिक की हिन्दी की चिकित्सा या स्वास्थ्य-सम्बन्धी पुस्तकें मँगाने पर सौ के लगभग चार्टों-चित्रों वाली अनुपम पुस्तक "चिकित्सा आलोक" मुफ्त भेजी जाती है ।

❀ तीस रुपये से ऊपर की पुस्तकें एक साथ मँगाने पर "चिकित्सा कला" (तीन सौ के लगभग चार्टों, चित्रों तथा पृष्ठों वाली अद्वितीय पुस्तक) मुफ्त भेजी जाती है ।

❀ "चिकित्सा आलोक" तथा "चिकित्सा कला" इन दोनों के लेखक हैं— **डा० हरनारायण कोकचा**

नोट—एक कार्ड डाल कर नमूने के कुछ चार्टस तथा १९६९ का

## नया सूची-पत्र मुफ्त मंगाएँ

## साधना प्रकाशन (रजिस्टर्ड)

१७/१११ रोहतक रोड, नई दिल्ली-५

NAG JYOTI
MURARI BROS
अपने नेत्रों को सदा स्वस्थ रखने के लिये प्रतिदिन नाग ज्य प्रयोग करने की आदत डालिये।
नाग ज्योति आंखों को नीरोग बनाता है। इसके प्रतिदिन व्यवहार करने से आंखों की जलन, सुर्खी, सूजन, गुहांजनी, पानी बहना, आंखों का चिपकना आदि रोग दूर होते हैं।
नेत्रों की रक्षा के लिये
नाग ज्योति प्रयोग करें
मुरारी ब्रदर्स
कमला नगर, देहली-७

Regd. No. D-1631

❀स

❀अ

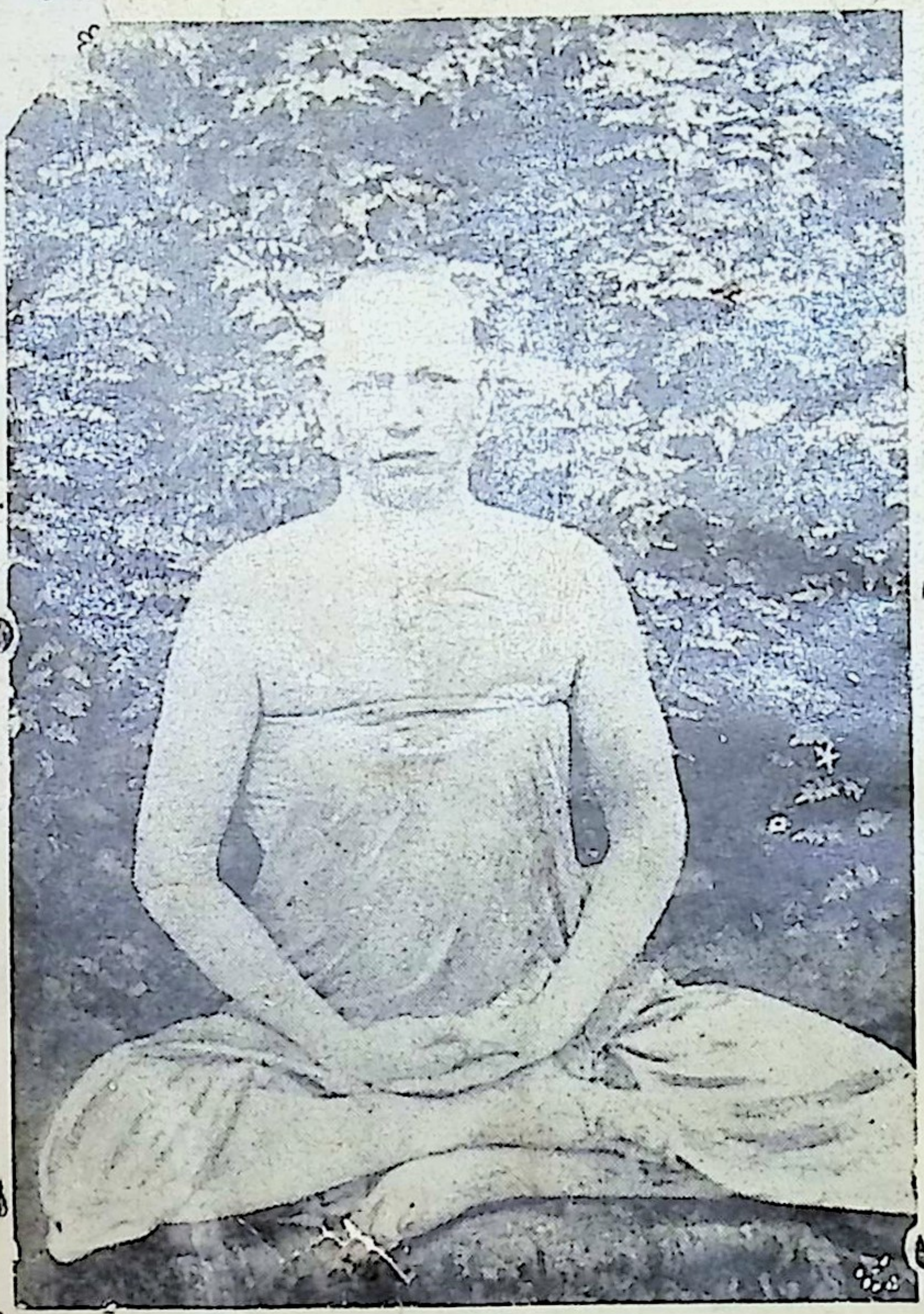

महान् तपस्वी क्रांतिकारी महर्षि दयानन्द को
कोटिशः प्रणाम